

हिन्दी ही क्यों?

सम्पादक

क्षितीश

पृष्ठभूमि

भारत के संविधान का अनुच्छेद 343 निर्देशित करता है कि संघ की राजभाषा हिन्दी और लिपि देवनागरी होगी। यह निर्देश भी है कि संविधान के प्रारम्भ से पन्द्रह वर्ष की अवधि तक संघ के उन सभी शासकीय कार्यों के लिए अंग्रेजी भाषा का प्रयोग किया जाता रहेगा, जिनके लिए उसका पहले से प्रयोग किया जा रहा था। साथ ही, अनुच्छेद 345 निर्देशित करता है कि राज्यों को हिन्दी या उस राज्य की किसी भाषा को शासकीय कार्यों में प्रयोग करने की स्वतन्त्रता होगी।

भारत की हिन्दी-भाषी जनता को विश्वास था कि स्वतन्त्रता के लगभग पन्द्रह वर्ष पश्चात् शासकीय एवं अन्य कार्यों के लिए हिन्दी भाषा का प्रयोग निर्बाध रूप से होने लगेगा। इस विश्वास का आधार भारत का संविधान, तत्कालीन राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद के अनेक अध्यादेश, तथा स्वयं तत्कालीन प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू द्वारा जनता को दिए गये आश्वासन थे। किन्तु भारत गणराज्य के चौदहवें वर्ष में राजभाषा अधिनियम, 1963 संसद में पारित हुआ कि संविधान के पन्द्रह वर्ष की समाप्ति हो जाने पर भी अंग्रेजी प्रयोग में लाई जाती रहेगी। यही नहीं, 1967 में इसी अधिनियम के संशोधन में यह निर्देश आ गया कि अंग्रेजी का प्रयोग तब तक होता रहेगा जब तक सभी राज्यों के विधान-मण्डल और संसद के दोनों सदन अंग्रेजी भाषा का प्रयोग समाप्त करने का संकल्प पारित न कर दें। सीधे शब्दों में अंग्रेजी के चिरकाल तक प्रयोग का रास्ता इस अधिनियम संशोधन द्वारा खुल गया।

उस समय के सभी हिन्दी समर्थकों ने राजभाषा अधिनियम संशोधन 1967 का यथासंभव विरोध किया। यह संशोधन उनकी इस आशा पर, कि स्वतन्त्रता के कुछ वर्ष पश्चात् ही सही, हिन्दी भाषा को वास्तव में राजभाषा के रूप में प्रयोग होने का गौरव प्राप्त होगा, कुठाराघात था। प्रस्तुत संकलन उस समय के विचारों, सुझावों एवं आक्रोश का दर्पण है।

— पंडित क्षितीश वेदालंकार स्मृति न्यास

डी-81, गुलमोहर पार्क, नई दिल्ली-110049

विषय सूची

पृष्ठभूमि

1. प्रस्तावना – अंग्रेजी के कफन की कील	5
2. स्वतंत्र भारत का संदेश संसार के नाम	6
– महात्मा गांधी	
3. जब राजा जी ने माफी मांगी	7
– प्यारेलाल (गांधी जी के सचिव)	
4. क्या अंग्रेजी राष्ट्रीय एकता का साधन है?	8
– आचार्य विनोबा भावे	
5. क्या हम राज्यशास्त्र के सिद्धान्त को उलट देंगे?	13
– मोरारजी देसाई, उपप्रधानमंत्री	
6. मूल्य चुकाना ही पड़ेगा	16
– डॉ. वी.के.आर.वी. राव, जहाज रानी मंत्री	
7. कोई भी प्रान्त 'इतर' नहीं	20
– आरिंग पूडि	
8. हिन्दी का विरोध एकता का विरोध है	23
– फादर कामिल बुल्के	
9. शोषण और लूट का जबर्दस्त हथियार – अंग्रेजी	27
– जॉर्ज फर्नांडीस, संसद सदस्य	
10. सांस्कृतिक एकता के लिए हिन्दी आवश्यक	31
– प्रो. चन्द्रहासन	
11. राष्ट्रीय एकता का प्रतीक	35
– दयाराम बेरी	
12. हिन्दी का सार्वदेशिक स्वभाव	37
– डॉ. रामधारी सिंह दिनकर	
13. लोकभाषा और लोकराज	45
– डॉ. राम विलास शर्मा	

14. प्रश्न माध्यम का नहीं, अंग्रेजी हटाने का है	51
— डॉ. राम मनोहर लोहिया	
15. शिक्षा का माध्यम: मातृभाषाएं	54
— अमरनाथ विद्यालंकार	
16. आत्मवंचना को प्रश्रय	60
— वाल्मीकि चौधरी, संसद सदस्य	
17. किसे मानें — प्रधान मंत्री का आश्वासन या राष्ट्रपति का आदेश?	64
— प्रकाशवीर शास्त्री, संसद सदस्य	
18. भाषा विधेयक का घातक पहलू	69
— शिवचन्द्र शर्मा	
19. नेहरू जी के आश्वासनों के नाम पर जनता से छल	71
— डॉ. कैलाशचन्द्र भाटिया	
20. शंकराचार्यों का आह्वान	74
— शिव कुमार गोयल	
21. अंग्रेजी—समर्थक आदेश की परवाह न करें	77
— सेठ गोविन्ददास, संसद सदस्य	
22. अपराधी कौन — जनता या सरकार?	80
— सूर्यनारायण व्यास	
23. यदि मैं तमिल या बंगाली होती!	84
— श्रीमती महादेवी वर्मा	
24. यदि मैं तमिल या बंगाली होता!	86
— सुमित्रानन्दन पन्त	
25. यदि मैं तमिल या बंगाली होता!	88
— डॉ. रामकुमार वर्मा	

1. अंग्रेजी के कफन की कील

(प्रस्तावना)

लोकतंत्र के समस्त सिद्धान्तों और मूल्यों की उपेक्षा करके भारत सरकार जिस प्रकार निर्लज्जता-पूर्वक राजभाषा (संशोधन) विधेयक को पास करके अंग्रेजी को अनन्त काल तक भारत की छाती पर मूंग दलने के लिए खुली छूट देने को कटिबद्ध है, वह समस्त राष्ट्रवादियों को चुनौती है। आज अंग्रेजी के समर्थक अंग्रेजी को बनाए रखने के लिए वही तर्क देते हैं जो कभी अंग्रेजों के समर्थन में दिये जाते थे। परन्तु राष्ट्र का स्वाभिमान चिरकाल तक इस अपमान को बर्दाश्त नहीं कर सकता। अंग्रेजी को हटाने के लिए हम फिर उन्हीं तर्कों को दुहराते हैं जो अंग्रेजों को हटाने के लिए हमारे राष्ट्र नेता चिरकाल से देते आए हैं। लाहौर में रावी के तट पर स्वाधीनता के जिस घोषणा पत्र द्वारा भारत के लिए पूर्ण स्वराज्य की मांग की गई थी उस घोषणा पत्र को हमारे नेता एक बार पुनः पढ़ें और देखें कि जो आरोप अंग्रेजों के राज्य के विरुद्ध थे वही आरोप आज अंग्रेजी के विरुद्ध सही बैठते हैं या नहीं।

जैसे अंग्रेज गए, वैसे अंग्रेजी भी इस देश से जाएगी ही। अब कितनी ही कृत्रिम प्राणवायु उसे चिरकाल तक जीवित नहीं रख सकती। उसका जो मुख्य आधार था — विदेशी शासन — वह ही नहीं रहा तो अंग्रेजी कैसे रहेगी? किन्तु अंग्रेजी का समर्थन करने वाले अपने मस्तक पर कलंक का इतना बड़ा टीका अवश्य थोप लेंगे कि हिन्द महासागर की अथाह जलराशि भी उसे धो नहीं सकेगी।

हिन्दी के पक्ष में तर्क देने का समय अब बीत चुका है। फिर भी हमने 'हिन्दी ही क्यों' में कुछ तर्क प्रधान लेखों का संकलन किया है। लेखों की योजना इस क्रम से रखी है कि प्रारम्भ में अहिन्दीभाषी राज्यों के एक-एक प्रतिनिधि का लेख दिया गया है फिर हिन्दी के सार्वदेशिक, लोकतांत्रिक और शिक्षा के माध्यम में समर्थ स्वरूप को उजागर करने वाले कुछ लेख हैं, और अंत में राजभाषा (संशोधन) विधेयक के विरोध में सरकारी अलंकरणों का परित्याग करने वाले कतिपय मनस्वियों के लेख हैं। यह संकलन केवल सामयिक आंदोलन की वस्तु न रह कर स्थायी महत्त्व की वस्तु भी सिद्ध हो, यह प्रयत्न किया गया है। अंग्रेजी के कफन में एक कील यह संकलन भी बन सके इससे अधिक और कोई आकांक्षा नहीं है।

— सम्पादक

2. स्वतंत्र भारत का संदेश संसार के नाम

14 अगस्त, सन् 1947 से दो-तीन दिन पहले की बात है। कलकत्ता में हुए भयंकर साम्प्रदायिक उपद्रव को शान्त करने के लिए महात्मा गांधी कलकत्ता गए हुए थे। 15 अगस्त मध्य रात्रि को 12 बजने के तुरन्त बाद भारत की स्वतंत्रता और ब्रिटिश सरकार द्वारा सत्ता-हस्तान्तरण की घोषणा पर अमल होना था। इस महान ऐतिहासिक अवसर पर बी.बी.सी. (ब्रिटिश ब्रॉडकास्टिंग कारपोरेशन) वाले संसार के नाम स्वतंत्र भारत का संदेश प्रसारित करना चाहते थे। इस संदेश के लिए भारत के प्रतीक के रूप में उन्होंने महात्मा गांधी को ही उपयुक्त व्यक्ति समझा और वे उनका संदेश रिकार्ड करने के लिए कलकत्ता पहुंच गए।

महात्मा गांधी का उस दिन मौन-व्रत था।

जब गांधी जी को पता लगा कि बी.बी.सी. वाले इस प्रयोजन से आए हैं, तो अपने मौन व्रत की रक्षा करते हुए उन्होंने बी.बी.सी. वालों को एक कागज के पुर्जे पर लिखकर दिया:

“संसार से कह दो कि गांधी अंग्रेजी नहीं जानता।” क्या गांधी के रूप में स्वतंत्र भारत का संसार के लिए यही संदेश नहीं था?

(‘कलकत्ता का चमत्कार’ नामक पुस्तक से)

3. जब राजा जी ने माफी मांगी

1946 के मार्च महीने में गांधीजी ने डॉ. जयकर, सप्रू और राजाजी को हिन्दी में इस आशय का पत्र लिखा था कि “हमारी सामान्य जनता की स्वाधीनता की आवाज झूठी और थोथी होगी अगर हम उसकी भाषा में बोलने और सोचने की आदत नहीं डालेंगे। यह काम या तो अभी होगा या फिर कभी नहीं होगा।”

गांधीजी के निजी सचिव प्यारेलालजी ने इस प्रसंग का विस्तृत विवरण देते हुए लिखा है – राजाजी को तो परस्पर विरोधी बातों से हमेशा प्रेम रहता है। उन्हें जब अपने गुरु के हाथ का देवनागरी में लिखा यह पत्र मिला तो उनकी कलम से यह अशोभनीय टीका निकल पड़ी – ‘आपकी नागरी पढ़ी नहीं जाती, इसलिए आप जो कहना चाहते थे वह बड़ी मुश्किल से मैं समझ सका हूँ.... जिस भाषा को हम दोनों अच्छी तरह जानते हैं और जिसका माध्यम के रूप में हम उपयोग कर सकते हैं, उसे छोड़ कर एक कठिन माध्यम को जानबूझकर अपनाना ठीक नहीं होगा। कभी-कभी विनोद के रूप में इसका उपयोग करना दूसरी बात है। आप पढ़ी न जा सकने वाली नागरी में मुझे लिखेंगे तो मैं तमिल में उत्तर देना शुरू कर दुंगा।’

राजाजी के गुरु ने इसका उत्तर यह दिया – हमें किसी भूल का पता चल जाए तो भी क्या हमें उसे जारी रखना चाहिए? हमने अंग्रेजी के द्वारा प्रेम का व्यवहार शुरू किया था – वह भूल थी। आप रोटी को बचाकर भी रखना चाहते हैं और उसे खाना भी चाहते हैं। मैंने समझा था कि प्रेम के दबाव में आप हिन्दुस्तानी को अपना लेंगे और अपनी सेवा से उसे चमका देंगे। लेकिन, खैर, मेरी इच्छा न सही, आपकी ही रहे।’

राजाजी ने पश्चात्ताप के साथ इसका उत्तर देते हुए लिखा – ‘हिन्दुस्तानी के मामले में मैं अपना अपराध स्वीकार करता हूँ और आपसे क्षमा चाहता हूँ। इसका बचाव जवानी नहीं, बुढ़ापा है। किन्तु और तर्क न कीजिए, आपकी मिठास ही मुझे इतना अधिक अपराधी बना देती है।’

4. क्या अंग्रेजी राष्ट्रीय एकता का साधन है?

— आचार्य विनोबा भावे —

(जन्म से मराठी भाषी, सर्वोदय के प्रवर्तक और सही अर्थ में महात्मा गांधी के उत्तराधिकारी)

पिछले कुछ समय से देश में भाषा के प्रश्न को लेकर जो घटनाचक्र घटित हुआ है उसके अनेक पहलू हैं। विषय यद्यपि व्यापक है फिर भी दृष्टिकोण में अंतर होने के कारण ही विवाद उठ खड़ा हुआ है।

इस प्रश्न पर विचार करते हुए भारतवर्ष के समग्र इतिहास को ध्यान में रखना जरूरी है। बदरी केदार भारत के दो महान और पवित्र तीर्थस्थल हैं। कवि-कुल शिरोमणि कालिदास द्वारा वर्णित नगाधिराज हिमालय की गोद में तिब्बत और भारत की सीमा पर ये स्थित हैं। इन दोनों तीर्थ स्थानों के दर्शन के लिए भारत के सभी राज्यों के लाखों भक्तजन प्रतिवर्ष जाते हैं। इन मंदिरों के पुजारी और प्रबन्धक सदा केरल के नम्बूदिरी ब्राह्मण हुआ करते हैं। वहां का पुजारी इनके सिवाय और कोई नहीं हो सकता है। कहां केरल, कहां बदरीनाथ। भारत की यह एकता क्या अंग्रेजी भाषा के कारण सम्पन्न हुई है?

‘शिव पेरुभान’ (भगवान शिव) तमिलनाडु के देवता हैं। इस बात को सभी जानते हैं परन्तु शैव सिद्धान्त पर प्रमाणित ग्रंथ मुख्यतः केवल दो ही भाषाओं — कश्मीरी और तमिल में मिलते हैं। तमिलनाडु का यह शिव कश्मीर में कैसे पहुंच गया? क्या उसे वहां किसी ने अंग्रेजी भाषा के माध्यम से भेज दिया? कहां तमिलनाडु एकदम दक्षिण में और कहां कश्मीर एकदम उत्तर में! देश में दक्षिण उत्तर का यह संगम-समागम क्या अंग्रेजी का परिणाम है?

भारत की एकता

भारत की यह एकता सांस्कृतिक एकता के कारण है। पूर्व और पश्चिम तथा दक्षिण और उत्तर को मिलाने वाला अद्भुत कार्य भारत में पिछले दस हजार वर्षों से निरन्तर होता आ रहा है।

सन्त अप्पर बारह वर्ष तक बिहार में रहे। पता नहीं यह बात तमिलनाडु वालों को भी मालूम है या नहीं? प्राचीन काल में बिहार में जैन मातावलम्बियों का अच्छा वर्चस्व था। जैन शास्त्रों का अध्ययन करने के लिए ही सन्त अप्पर बिहार में रहते थे। उत्तर भारत में कबीर और तुलसी जैसे बड़े सन्त हो गए हैं। ये दोनों रामानुज सम्प्रदाय के थे। ऐसा कैसे संभव हुआ? रामानुज ने उत्तर का आश्रय लिया था। वे जिस वैष्णव सम्प्रदाय के अनुयायी थे उस सम्प्रदाय के मुख्य आचार्य नम्मलवार थे। परन्तु नम्मलवार का नाम महाराष्ट्र से लेकर कश्मीर तक और वहां से बंगाल और असम तक किसी को भी नहीं मालूम और रामानुज भी नम्मलवार के शिष्य के शिष्य थे। रामानुज ने केवल नम्मलवार के विचारों का ही प्रचार किया और ये विचार सारे भारत में फैल गए। उस का कारण यह है कि रामानुज

उत्तर भारत में गए थे, उनकी मातृभाषा तमिल थी, परंतु तमिल में उन्होंने बहुत कम लिखा है, उनका लेखन कार्य प्रायः संस्कृत में हुआ है।

महाराष्ट्र में दो श्रेष्ठ संतों — ज्ञानदेव और तुकाराम का नाम घर-घर में सुना जा सकता है। ये शंकराचार्य के शिष्य थे। हमारे युग में बंगाल में रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानंद — दो श्रेष्ठ पुरुष हो गए हैं। ये दोनों भी शंकर के अनुयायी थे। यह सब क्यों और कैसे हुआ? शंकराचार्य की मातृभाषा मलयालम थी। परंतु यह कार्य मलयालम के कारण निश्चय से नहीं हुआ। केवल संस्कृत का आश्रय लेकर ही शंकर ने यह चमत्कार कर दिखाया।

शंकराचार्य की यात्रा

मैं श्रीनगर गया था। वहां एक छोटी-सी टेकरी है जिसका नाम शंकराचार्य शिखर है। वहां के लोगों ने मुझे बताया कि इस स्थान पर शंकराचार्य ने तपस्या की थी। यह कैसी विचित्र बात है — केरल के किसी युवक ने श्रीनगर में तपस्या की थी और इस बात को आज भी कश्मीर में बड़े प्रेम और गर्व से बताया जाता है। मैं जब कश्मीर की यात्रा पर गया तब वहां के लोग, यह कह कर कि शंकराचार्य के बाद एक निश्चित 'मिशन' लेकर आने वाले आप दूसरे महानुभाव हैं, मेरी यात्रा की तुलना शंकराचार्य की यात्रा से करते थे। मैं असम भी गया हूँ। गुवाहाटी में कामाख्या देवी का मंदिर है। वहां प्राचीन काल में बड़े उद्भट विद्वान रहा करते थे। उनसे विचार-विमर्श और ज्ञान-चर्चा करने के लिए शंकराचार्य वहां भी गए थे। इसके बाद में कलकत्ता के निकट गंगासागर गया। मुझे वहां भी बताया गया कि इस जगह शंकराचार्य कई दिन ठहरे थे। वहां उन्होंने सांख्य-विद्वानों से शास्त्रार्थ किया था। शंकराचार्य के एक स्तोत्र में गंगा सागर का भी उल्लेख है:— 'कुरुते गंगासागर गमनम्'। भजगोविन्दम् स्तोत्र में शंकराचार्य ने लिखा है कि गंगासागर की यात्रा करने से भी मुक्ति नहीं मिलती है, मुक्ति के लिए आत्म ज्ञान चाहिए। शंकराचार्य बहुत घूमे परन्तु वे भारत की सीमाओं से बाहर नहीं गए। अपनी एकता के लिए भारत अंग्रेजी भाषा का ऋणी नहीं है, यह बात अच्छी प्रकार हृदयंगम कराने के लिए ही मैंने यह सब कहा है।

अंग्रेजी भाषा खिड़की है

दूसरी बात जिस पर मैं बल देना चाहता हूँ वह यह है कि अंग्रेजी भाषा एक खिड़की है। हमारे देश में यह विचार बद्धमूल हो चला है कि अंग्रेजी के माध्यम से हमें भारत से भिन्न शेष जगत का दर्शन होता है। परन्तु हम इस बात को भूल जाते हैं कि यह 'मात्र एक' खिड़की है। बुद्धिमान लोग अपने घरों में केवल एक खिड़की नहीं लगाते। चारों दिशाओं में अलग-अलग खिड़कियां रखने से ही सारे विश्व के समूचित दर्शन हो सकते हैं। यदि हम केवल एक ही खिड़की से दुनिया देखना चाहेंगे तो हमें एकांगी दृश्य ही दिखाई देगा। इसलिए भारत को ऐसी अनेक खिड़कियों की जरूरत है। कम से कम फ्रेंच,

जर्मन, रूसी, स्पेनिश, चीनी, जापानी, आदि भाषाओं की सात खिड़कियों तो होनी ही चाहिए, तभी विश्व के यथार्थ दर्शन हो सकते हैं। अंग्रेजी से देश को लाभ पहुंचा है, परन्तु वह थोड़ा और एकांगी है।

केवल अंग्रेजी से धोखा

जब मैं जेल में था तब 'इनसाइड एशिया' नामक एक पुस्तक की बड़ी धूम थी। इस पुस्तक में एशिया के बारे में बहुत कुछ लिखा गया है। पुस्तक सुन्दर है, परन्तु इसमें भारत के बारे में जो लिखा गया है उसमें बहुत सी भूलें हैं। मुझ से जब कुछ लोगों ने यह बात कही तो मैंने उन्हें कहा: "इस पुस्तक के बारे में अन्य देशों के लोग भी ऐसा ही कहते होंगे। जापान वाले कहते होंगे: बाकी सब ठीक है, केवल जापान के बारे में गलत लिखा है। चूंकि हमें भारत की परिस्थितियों का ज्ञान है, इसलिए भारत के बारे में जो गलत बातें लिखी गई हैं उन पर हमारा सहज ही ध्यान चला जाता है। चीन, जापान, इण्डोनेशिया आदि के बारे में हमारा ज्ञान सीमित है अतः इन देशों के बारे में जो कुछ लिखा है उसे हम ठीक समझ बैठते हैं। इसी को संस्कृत में 'पर प्रत्ययनेय बुद्धिता' कहा गया है। अर्थात् अपनी बुद्धि से काम न कर दूसरे की बुद्धि पर निर्भर करना।

स्वयं पुरुषार्थ चाहिए

इसलिए हमें अंग्रेजी के अतिरिक्त दूसरी खिड़कियों का भी प्रयोग करना चाहिए। अंग्रेजों की तरह हमें स्वयं भी पुरुषार्थ करना चाहिए। स्वयं सब देशों में घूम-फिरकर, देखकर ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। अंग्रेजों ने जो पुरुषार्थ किया है उसका लाभ स्वयं हमारी झोली में आकर गिरेगा, यह भ्रम निकाल देना चाहिए। मेरे भोजन या औषध लेने का लाभ किसी और को नहीं होगा। स्नान, निद्रा, भोजन, औषध का जो सेवन करता है, उसका लाभ उसी को होता है। अंग्रेजी ने हमें कुछ ज्ञान दिया है, परन्तु उसके साथ ही उसने कितना अज्ञान, और ज्ञान के आवरण में कितना दम्भ और अहंकार और मिथ्यात्व प्रदान किया है, क्या इस पर किसी ने कभी कुछ सोचा है?

एक भारी भ्रम

बहुत से लोगों की यह धारणा है कि अंग्रेजी आने पर सारी दुनिया में कहीं कोई अड़चन नहीं आएगी। अंग्रेजी विश्व की भाषा है, यह भारी भूल है। अंग्रेजी जानने वालों की संख्या 30 करोड़ है, जबकि विश्व की जनसंख्या 300 करोड़ है। अर्थात् 10 प्रतिशत व्यक्ति ही अंग्रेजी जानते हैं। विश्व में अनेक देश ऐसे हैं जहां अंग्रेजी का बिल्कुल प्रयोग नहीं होता।

बहुत से लोग, जिनमें देश के चोटी के शिक्षा शास्त्री भी शामिल हैं, यह समझते हैं कि अंग्रेजी के माध्यम से ही विज्ञान सीखा जा सकता है। विज्ञान की अनेक शाखा प्रशाखाएं हैं। किसी का विकास जर्मन भाषा में हुआ है, परन्तु अंग्रेजी में नहीं, किसी का

रुसी में हुआ है और अंग्रेजी में नहीं। इसलिए अंग्रेजी और विज्ञान एक ही बात के दो पर्यायवाची हैं, यह भारी भ्रम जितनी जल्दी दूर हो जाए उतना ही शीघ्र देश का कल्याण होगा।

देश में एक और विचित्र—सा भ्रम फैल गया है, या फैलाया गया है, कि तमिलों और बंगालियों के लिए हिन्दी सीखने के बजाय अंग्रेजी सीखना अधिक सरल है। मैं यह बात अब तक नहीं पचा सका हूँ। मैंने भारत की बहुत—सी भाषाएं सीखी हैं। अंग्रेजी भी जानता हूँ। परंतु केवल अंग्रेजी भाषा सीखने में जितना श्रम करना पड़ता है उतने श्रम में भारत की सब भाषाएं सीखी जा सकती हैं, ऐसा मेरा अनुभव है। बेल्लूर जेल में मैंने दक्षिण की चारों भाषाएं—तमिल, कन्नड़ तेलुगु और मलयालम एक साथ सीखनी शुरू की। किसी ने मुझसे पूछा: 'चारों भाषाएं एक साथ क्यों सीख रहे हो?' मैंने उसे उत्तर दिया: 'क्योंकि कोई पांचवी भाषा नहीं है, इसलिए। यदि कोई और भाषा होती तो उसे भी साथ ही सीखता।

भारत में दो ही भाषाएं

तमिल, कन्नड़ आदि दक्षिण की चारों भाषाएं बहुत कुछ एक ही भाषा हैं। इसी प्रकार शेष भारत की बाकी भाषाएं भी मिल कर एक ही भाषा के भिन्न रूप हैं। इस प्रकार सारे भारत में दो ही भाषाएं हैं। यदि किसी को हिन्दी आती है तो वह महाराष्ट्र, गुजरात, राजस्थान, पंजाब, कश्मीर, हिमाचल प्रदेश, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, उड़ीसा बंगाल और असम इन 11 राज्यों में अपना काम चला सकता है। यह बात मैं अपने व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर कह सकता हूँ। इन सब राज्यों में मैं घूमा हूँ। कटक में मैंने हिन्दी में भाषण दिया। दुभाषिये के लिए पूछने पर जनता ने कहा कि हमें आपका हिन्दी भाषण समझ में आता है, दुभाषिये की जरूरत नहीं। गुवाहाटी में स्व. प्रधानमंत्री नेहरू जी ने हिन्दी में भाषण दिया था तथा जनता ने उसे समझा था। ऐसी स्थिति में दक्षिण भारतीयों के लिए हिन्दी विदेशी भाषा है, हिन्दी विदेशी भाषा है, यह कहना मिथ्या प्रलाप है। सभी भारतीय भाषाओं में एक साम्य है अतः यह कहना कि तमिल, तेलुगु आदि भाषा—भाषियों के लिए अंग्रेजी की अपेक्षा हिन्दी दूर की भाषा है, केवल अपने अज्ञान की उद्घोषणा करना है। इसी प्रकार यह कहना कि हिन्दी सीखना बड़ा कठिन है, निराधार है। भारत में कश्मीर से कन्याकुमारी और कच्छ से कामरूप तक जो सांस्कृतिक एकता है, उसका कारण क्या है? मेरे कथन का सार यह है कि हिन्दुस्तान में कुल मिलाकर अधिकतम दो ही भाषाएं हैं और उन दोनों को जोड़ने वाली कड़ी संस्कृत है, अंग्रेजी नहीं।

यदि मैंने हिन्दी का सहारा न लिया होता तो कश्मीर से कन्याकुमारी और असम से केरल तक के गांव—गांव में जाकर मैं भूदान—ग्रामदान का क्रांतिपूर्ण सन्देश जनता तक न पहुंचा सकता। यदि मैं मराठी भाषा का सहारा लेता तो महाराष्ट्र से बाहर और कहीं काम न बनता। इसी तरह अंग्रेजी भाषा लेकर चलता तो कुछ प्रान्तों में तो काम चलता, परन्तु गांव—गांव जाकर क्रान्ति की बात अंग्रेजी द्वारा नहीं हो सकती थी।

प्रत्येक प्रान्तीय भाषा का अपना-अपना स्थान है। और इन भाषाओं के माध्यम से जनता में जागृति और राज्य निष्ठा की जो भावना पैदा होती है, वह विशेष गुण है। इसी तरह अंग्रेजी भाषा का भी अपना स्थान है, क्योंकि इसके माध्यम से हम काफी अंश में विदेशों से संबंध रख सकते हैं। मैंने काफी अंश का प्रयोग इस लिए किया है कि अब भी दुनिया का बहुत बड़ा हिस्सा ऐसा है, जहां अंग्रेजी नहीं चलती।

इसके अतिरिक्त विज्ञान के अध्ययन के लिए भी अंग्रेजी का उपयोग होता है। आज भी भारत में एक दूसरे से सम्पर्क साधने की कड़ी के रूप में इस का उपयोग होता है, परन्तु अंग्रेजी का इतना महत्व मान लेने पर भी हिन्दी का अपना अनुपम स्थान है और विशिष्ट महत्व है।

मैंने अनके बार कहा है कि जिस प्रकार मनुष्य को देखने के लिए दो आंखों की आवश्यकता होती है, उसी तरह राष्ट्र के लिए दो भाषाओं—प्रान्तीय भाषा और राष्ट्र भाषा की आवश्यकता होती है। इसी लिए हम लोगों ने दो भाषाओं का ज्ञान अनिवार्य माना है। भगवान शंकर का एक तीसरा नेत्र था — जिसे ज्ञान नेत्र कहते हैं। इसी तरह हम लोगों को भी तीसरे नेत्र की जरूरत अनुभव हो तो संस्कृत भाषा का अध्ययन लाभकारी सिद्ध होगा और उस समय अंग्रेजी भाषा चश्मे के रूप में काम आएगी। चश्मे की जरूरत सब को नहीं पड़ती। हां, कभी कभी कुछ लोगों को उसकी जरूरत पड़ती है। बस, इतना ही अंग्रेजी का स्थान है। इससे अधिक नहीं।

इसीलिए मैं चाहता हूं कि हिन्दी का प्रचार अच्छी तरह व्यापक रूप में होना चाहिए। परन्तु यह किसी के ऊपरी लादी नहीं जा सकती, और लादने की आवश्यकता भी नहीं है। पर मेरा कहना तो यह है कि सब लोग इसे प्रेम से स्वीकार करेंगे ही। मुझे विश्वास है कि हिन्दी का प्रचार-प्रसार जितना बढ़ेगा, उतना ही लोग इसे स्वीकार करेंगे। हिन्दी का किसी भाषा से कोई विरोध नहीं, इतना ही नहीं, परन्तु हिन्दी को राष्ट्रभाषा हिन्दी भाषियों ने नहीं, अहिन्दी भाषियों ने बनाया है। स्वामी दयानन्द, गांधीजी, लोकमान्य तिलक आदि ने जो हिन्दी भाषी नहीं थे और जो हमारे देश के बहुत बड़े लोकनेता हो गए हैं, ऐसे लोगों ने हिन्दी को राष्ट्र भाषा रूप में मान्यता प्रदान की है।

5. क्या हम राज्य—शास्त्र के अटल सिद्धांत को उलट देंगे?

— मोरारजी देसाई —

(जन्मना गुजराती—भाषी और भारत के उपप्रधानमंत्री)

शुरू में ही मैं यह कह देना चाहता हूँ कि हिंदी को राष्ट्रभाषा के रूप में हिंदी भाषा भाषियों ने नहीं, अहिंदी भाषा भाषियों ने प्रस्तावित किया था। मोटे तौर पर दो नाम मेरे स्मरण में हैं — स्वामी दयानंद और महात्मा गांधी। दोनों ने ही हिंदी को राष्ट्रभाषा स्वीकार ही नहीं किया उसे हृदय से अपनाया और उसके जरिए सारे देश में जागरण का शंख फूँका। बंकिमचंद्र चटर्जी और श्रीनिवास शास्त्री ने उसका समर्थन किया था।

स्वामी दयानंद और महात्मा गांधी इस देश की जनता के दिल तक पहुंचना चाहते थे। शासक तो वे थे नहीं, जो सत्ता के जरिए जनता पर अपनी बात प्रकट कर देते। वह तो जनसेवक थे। प्रेम और सेवा के जरिए ही जनता को अपने कर्तव्य का बोध कराना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने ऐसी भाषा की खोज की जिसके द्वारा वे ज्यादा से ज्यादा लोगों के साथ संपर्क कायम कर सकें।

उन्होंने देखा कि देश में एक ऐसी भाषा प्रचलित है जिसके सहारे सदियों तक संतों ने देश के बहुत बड़े भाग में प्रेम, भक्ति और सेवा का प्रचार किया है। स्वभाव से दोनों महापुरुष संत थे। इसीलिए इस भाषा को खोजने और परखने में उन्हें ज्यादा कठिनाई नहीं हुई। यह भाषा हिंदी थी और किसी न किसी रूप में, काफी तादाद में, लोग इसे समझते थे।

अंग्रेजी की जड़ कहाँ है

करीब 50 बरस पहले ही गांधी जी ने हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने का निर्णय कर लिया था। अंग्रेजी को यह दर्जा उन्होंने नहीं दिया था क्योंकि वह इस देश की भाषा नहीं है, उसकी जड़ें इस देश के निवासियों के संस्कारों में नहीं हैं। 100 साल की राजकीय सत्ता और एकछत्र निरंकुश शासन के द्वारा भी अंग्रेज जिसे डेढ़ से दो फीसदी से ज्यादा लोगों को नहीं सिखा पाए, उस अंग्रेजी भाषा को वे देश की राजभाषा या राष्ट्रभाषा मानने को तैयार नहीं थे।

अंग्रेजी से उन्हें बैर नहीं था, कोई विरोध नहीं था। किंतु वे यह कभी सहन करने को तैयार नहीं थे कि अंग्रेजी इस देश की भाषाओं का हक छीने। राजकाज में इस्तेमाल की दृष्टि से वे अंग्रेजी के मुकाबले देश की किसी भी प्रांतीय भाषा को श्रेष्ठ समझते थे, क्योंकि यह सभी भाषाएं स्थाई हैं और इनकी तुलना में अंग्रेजी को वे अंग्रेजी राज्य के साथ खत्म होने वाली भाषा मानते थे।

दरअसल अंग्रेजी राज्य के साथ वे अंग्रेजी भाषा की सत्ता भी समाप्त करना चाहते थे। स्वतंत्रता मिलते ही उन्होंने देश का ध्यान इस तरफ आकर्षित भी किया था। किंतु परिवर्तन के शोरगुल में उनकी आवाज को लोगों ने ठीक तरह नहीं सुना। आज जो कुछ राजभाषा को लेकर हो रहा है, वह इसी उपेक्षा का फल है।

कांग्रेस लोकप्रिय क्यों

गांधी जी तो हिंदी से कहीं अच्छी अंग्रेजी की योग्यता रखते थे। बड़ी प्रभावशाली अंग्रेजी लिखते थे। यहां तक कि अंग्रेज भी उनके अंग्रेजी पर असाधारण अधिकार पर चकित थे भारत की आजादी का आंदोलन वे अंग्रेजी में चला सकते थे। उनके द्वारा कांग्रेस का नेतृत्व संभालने से पहले वह अंग्रेजी में चलाया भी जाता था। लेकिन तब वह लोकव्यापी आंदोलन नहीं था, गिनती के अंग्रेजीदां लोगों का एक छोटा सा समूह मात्र था। गांधी जी ने उसकी इस कमजोरी को समझा और अंग्रेजी के बजाय जन भाषा में स्वतंत्रता का आंदोलन शुरू किया। इस भाषा-संबंधी परिवर्तन के फल स्वरूप गिनती के लोगों की कांग्रेस करोड़ों लोगों के विश्वास और संकल्पों को धारण करने वाली विश्व विख्यात कांग्रेस बन गई।

राजभाषा के सवाल को लेकर आज जो कोलाहल मचा हुआ है और जिसे अवसरवादी राजनीतिक हिंसा का अग्नि कुंड बनाने में व्यस्त हैं, उस संदर्भ में गांधीजी की यह भूमिका विशेष महत्व की है। जो अंग्रेजी भाषा स्वराज्य का आंदोलन चलाने के काबिल साबित नहीं हुई, वह अंग्रेजी भाषा स्वराज्य चलाने के काबिल कैसे हो सकती है — इस सवाल पर आज हम सबको मनन करना होगा।

इतिहास की चेतावनी

इस प्रसंग में इतिहास की चेतावनी भी हमें कान खोल कर सुननी होगी। यह हमारे आपके ही जीवन काल की घटना है। अपार शक्ति और साधनों वाला अंग्रेजी साम्राज्य भारत से इसीलिए लोप हो गया कि उसने अपना राज-काज लोक भाषा में नहीं कर अपनी निजी भाषा में किया था।

यह राज्यशास्त्र का अटल सिद्धांत है कि जिस राज्य में शासन और शासित के बीच हृदय का सीधा संपर्क न हो, वह राज्य कायम नहीं रह सकता। आज अंग्रेजी भाषा को राजभाषा बनाकर क्या हम राज्यशास्त्र के इस नियम को देश में उलटना चाहते हैं? क्या स्वराज्य के शासन की हम वही गति करना चाहते हैं जो अंग्रेजी शासन की हुई है?

भ्रामक विश्वास

आजकल एक और आश्चर्यजनक भय फैलाया जा रहा है, कि अंग्रेजी को हटाना देश की एकता के लिए घातक होगा। अंग्रेजी के सूत्र में देश की एकता गुथी हुई है, इस विश्वास से अधिक भ्रामक शायद ही और कोई विश्वास होगा। अंग्रेजी ने तो उल्टे देश की

एकता भंग की है — आपसी मतभेद के कई अखाड़े पैदा कर दिए हैं। देश की एकता देश के संस्कारों पर आधारित होती है और देश के संस्कारों की भाषा देशी भाषा ही हो सकती है। अंग्रेजी हमारे संस्कारों की भाषा नहीं हो सकती। यह पात्रता तो हिंदी या प्रादेशिक भाषाओं की ही है।

दूसरी दलील यह पेश की जाती है कि अंग्रेजी के हटने से देश की प्रशासनिक सूत्रबद्धता ढीली हो जाएगी। मेरी समझ में यह बड़ा भारी भुलावा है। प्रशासन और भाषा में जमीन-आसमान का अंतर है। प्रशासन साध्य है और भाषा साधन है। साधन के रूप में अंग्रेजी कमजोर साधन ही है, वह देश के स्वभाव की दृष्टि से अस्वाभाविक ही है।

मेरा विश्वास है कि अंग्रेजी की जगह हिंदी या किसी देशी भाषा का ही माध्यम हमारे प्रशासन को मिले तो न केवल हमारा प्रशासन ही ज्यादा चुस्त और उपयोगी हो जाएगा, लोकतंत्र की दिशा में भी हम काफी तेजी से आगे बढ़ जाएंगे।

एक भ्रम और अहिंदी प्रदेशों में प्रचारित किया जा रहा है कि अगर अंग्रेजी के स्थान पर हिंदी राजभाषा बना दी गई तो प्रादेशिक भाषाओं का विकास रुक जाएगा। यह एकदम उल्टी बात है। प्रादेशिक भाषाओं को असल में कोई नुकसान पहुंचा है, तो अंग्रेजी के निरंकुश प्रभुत्व से। परायी संस्कृति की भाषा इस देश की संस्कृति का वाहन कैसे बन सकती है — मेरी समझ में यह नहीं आता। इसके विपरीत, हिंदी देश की संस्कृति की भाषा है। हिंदी और प्रादेशिक भाषाओं का सांस्कृतिक पोषण स्रोत एक ही है। इसीलिए हिंदी के राजभाषा बनने पर मुझे तो विश्वास है कि प्रादेशिक भाषाओं का विकास रुकेगा नहीं, तेज ही होगा और उनकी इस समृद्धि का पोषण पाकर राजकाज की भाषा के रूप में हिंदी भी और अधिक समर्थ होगी।

आखिर में मैं फिर दोहराना चाहता हूं कि अंग्रेजी राजभाषा नहीं बन सकती, इसे मानकर ही हमें इस दिशा में आगे बढ़ना होगा। संपर्क भाषा के रूप में भी अनिश्चित काल तक इसका रहना संभव नहीं होगा, भविष्य की इस चेतावनी पर हमें अमल करना होगा। अगर आज के इस भ्रांत आग्रह को हम दर गुजर कर दें और विशुद्ध राष्ट्रप्रेम के तकाजे पर ही मन को एकाग्र करें तो मुझे आशा है कि राजभाषा के संबंध में हम जिस नतीजे पर पहुंचेंगे वह किसी भी प्रकार से और असंतोषजनक नहीं होगा।

6. मूल्य चुकाना ही पड़ेगा

— वी.के.आर.वी. राव —

(जन्म से कन्नड़ भाषी, कैम्ब्रिज में शिक्षा प्राप्त, प्रसिद्ध अर्थशास्त्री और शिक्षाशास्त्री तथा भारत सरकार के यातायात एवं जहाजरानी मंत्री)

राष्ट्र की परिभाषा के अनुसार, किसी भी स्वतंत्र राज्य की, जो अपने आप को राष्ट्र कहलाना चाहता है, राजभाषा कोई विदेशी भाषा नहीं हो सकती। कुछ बातें ऐसी हैं जो किसी भी देश के राष्ट्र बनने के साथ खुद-ब-खुद जुड़ जाती हैं, जैसे राष्ट्रीय झंडा, राष्ट्रीय गान और एक राष्ट्रीय भाषा। जिस राष्ट्र में बहुत सारी भाषाएं प्रचलित हों, वहां उनमें से किसी एक को राजभाषा बनाना ही पड़ता है। यह कहना कि राष्ट्र में कई भाषाएं होने के कारण यह तय करना मुश्किल है कि किस भाषा को राजभाषा का दर्जा दिया जाए, इसलिए किसी भी भाषा को राजभाषा ना बनाया जाए, जैसा कि कभी कभी-कभी भारत में कहा जाता है — भारत की एक राष्ट्रीयता के अस्तित्व को ही अस्वीकार करना है!

यह तर्क देना कि किसी विदेशी भाषा को राजभाषा बनाना अधिक सुविधाजनक है, क्योंकि यह इस समय अंतरराष्ट्रीय क्षेत्र में सबसे ज्यादा प्रचलित है, उन सभी स्वतंत्र राष्ट्रों की नीति के विपरीत होगा, जिनकी अपनी भाषाएं ही उनकी राज भाषाएं हैं। अगर सुविधा ही इसकी एकमात्र कसौटी होती तो संसार के सारे राष्ट्रों के लिए एक ही राजभाषा का होना अधिक सुविधाजनक होता। परंतु राष्ट्र केवल व्यक्तियों का समुदाय नहीं होता। यहां तक कि छोटे से डेनमार्क देश में भी उसकी राज भाषा डेनिश है और कोई भी डेनमार्क निवासी इस बात के लिए राजी नहीं होगा कि अंग्रेजी, फ्रेंच स्पेनिश उसके देश की राजभाषा केवल इस लिए बना दी जाए कि अंतरराष्ट्रीय जगत में इन भाषाओं का विशेष महत्व है।

अंग्रेजी स्वदेशी भाषा नहीं

किसी भी भारतीय के लिए यह तर्क देना कि एक विदेशी भाषा को इसीलिए देश की राजभाषा बना दिया जाए कि वह अंतरराष्ट्रीय जगत में विचार विनिमय के लिए अधिक सुविधाजनक है, एक प्रकार से संसार के सामने अपने देश के राष्ट्र होने में ही अविश्वास प्रकट करना होगा। यह कहना कि अंग्रेजी भारत के लिए विदेशी भाषा नहीं है क्योंकि वह यहां पिछले 150 वर्षों से प्रचलित है, अपने देश में शताब्दियों से प्रचलित करोड़ों भारतीयों की अपनी भाषाओं के अस्तित्व की उपेक्षा करना है। अंग्रेजी के लिए इस आधार पर पैरवी करना कि उसने हमारे राष्ट्रीय आंदोलन के लिए भारतीय जनता को एक किया है, यही कहना है कि भारतवासियों में भातीयता की भावना जगाने के लिए अंग्रेजों को वापस बुला लिया जाए। बेशक, अंग्रेजी राज्य में अंग्रेजी ने भारत के बुद्धिजीवियों को एक सूत्र में बांधा, परंतु भारतीय जनता ने राष्ट्रीय आंदोलन में मिलकर भाग लिया, विदेशियों को अपने देश

से बाहर खदेड़ा, क्यों? केवल इसलिए कि उनके बुद्धिजीवी नेताओं ने उनसे उनकी अपनी ही भाषाओं में बातचीत की।

बुद्धिजीवी वर्ग जनता नहीं

क्या गांधी जी ने जनता से अंग्रेजी में बात करके उसे आजादी दिलाई? इस बात को मानना ही पड़ेगा कि उनके प्रमुख साथियों ने जनता में चेतना जगाई तो अंग्रेजी के माध्यम से नहीं बल्कि जनता की अपनी भाषाओं में ही बात करके उन्हें राष्ट्रीय झंडे के नीचे जमा किया। यह ठीक है कि बुद्धिजीवियों का एक विशिष्ट स्थान है, परंतु जनता का स्थान निश्चय ही उससे भी अधिक ऊंचा है। भारत की जनता जो एक जगह एकत्र हुई, वह अंग्रेजी के माध्यम से नहीं हुई। यद्यपि भारतीय भाषाएं कई होने के कारण नेताओं को अलग-अलग भाषाएं बोलनी पड़ीं, परंतु इससे भारत की बहुभाषी जनता को समान भारतीयता की भावना महसूस करने में कोई बाधा नहीं हुई।

दूसरे हमारा सम्मान करें, इसके लिए सबसे पहले यह जरूरी है कि हम अपना सम्मान स्वयं करें। अगर हम में अपनी किसी भी राष्ट्रीय भाषा के लिए इतना सम्मान नहीं है कि हम उसे राजभाषा बना सकें, तो हम यह कैसे उम्मीद कर सकते हैं कि संसार हमारी भाषाओं और साहित्य का आदर करेगा और हमारे देश को एक सच्चा राष्ट्र मानेगा।

कोई भी मूल्य अधिक नहीं

क्योंकि हम बहु भाषा-भाषी लोग हैं और देश को एक राष्ट्र बनाना चाहते हैं, इसलिए हम में से जिनकी मातृ भाषा राजभाषा नहीं बन सकती, उनको एक दूसरी भाषा को राजभाषा स्वीकार करने में, अगर वह एक भारतीय भाषा हो, उसका जन्म इस देश में ही हुआ हो, शताब्दियों से उसका यही घर रहा हो और देश के लाखों लोग उसे बोलते हों, तो निश्चित ही उसके लिए बड़े से बड़ा मूल्य चुकाने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

अगर यह मान लिया जाए कि हमारी राजभाषा एक भारतीय भाषा ही होगी तो इसके लिए कौन सी भाषा चुनी जाए, इस बारे में कोई दो मत नहीं हो सकते। यही कारण है कि हम संविधान बनाने वालों ने एकमत होकर यह तय किया कि देवनागरी लिपि में लिखी गई हिंदी ही हमारी राजभाषा, अर्थात् भारतीय संघ की राजभाषा हो और वह निश्चय सन् 1965 से लागू होने वाला था।

दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति

दुर्भाग्यवश आज स्थिति बदल गई है। एकमत का स्थान पारस्परिक मत वैभिन्य और भेदभाव ने ले लिया है। हमें वह करुण दिन भी देखना पड़ा, जब भारतीय खुलेआम यह कहने लगे कि उनके लिए हिंदी भी उतनी ही विदेशी है, जितनी अंग्रेजी और वह इन दोनों विदेशी भाषाओं में से अंग्रेजी को ही देश की राजभाषा बनाना पसंद करेंगे। हमने संसद को अपने प्रस्ताव में अंग्रेजी को एक अतिरिक्त राजभाषा स्वीकार करते हुए देखा, साथ ही

सरकार को यह आश्वासन देते भी देखा की भाषा संबंधी है यह द्वंद अनंत काल तक चलता रहेगा। भारत के दो राष्ट्रीय नाम हैं, दो स्वतंत्रता दिवस हैं, दो राष्ट्रीय गान हैं और अब भारत में दो राज भाषाएं भी होंगी। इस द्वंद का अंत कहां होगा? क्या यह अस्थिरता हमेशा हमारी विचार धारा पर हावी रहेगी?

राजधानी में अंग्रेजी

इस समय संसार हमें जिस रूप में देखता है, हमारे बच्चे हमें जिस रूप में समझते हैं, वह रूप वही है जिसमें हम स्वयं को विदेशी भाषा का गुलाम मानने में गौरव का अनुभव करते हैं। स्वतंत्र भारत की राजधानी स्पष्ट ही अंग्रेजी के प्रभाव से ओतप्रोत है, यहां हिंदी प्रायः पूर्णतः बहिष्कृत है। कुछ महीने हुए दिल्ली प्रशासन ने चौराहों पर गाड़ियों का नियंत्रण करने वाले सिपाहियों को 'स्टॉप' (रुकिए) की तख्तियाँ दीं। परंतु 'स्टॉप' का यह संकेत उन पर अंग्रेजी में लिखा हुआ था। यातायात को नियंत्रित करने वाले प्रकाश चिन्हों पर अंग्रेजी में 'गो' और 'स्टॉप' लिखा रहता है। हो सकता है कि उन्होंने ठीक ही किया हो। क्या हमारे यहां सड़कें केवल मोटर वालों के लिए ही नहीं बनी हैं? और क्या हमारे सभी मोटर वाले हिंदी की बनिस्बत अंग्रेजी को पसंद नहीं करते? अगर पैदल चलने वाले अच्छी तरह अंग्रेजी ना बोल सके, तो इससे क्या अंतर पड़ता है? उनका क्या है। वे तो आम लोग हैं। और आम लोग हमेशा ही विदेशी संकेतों के आदी बनाए जा सकते हैं। इससे भी ज्यादा जो बात मेरी समझ में नहीं आती, वह यह कि दिल्ली दुग्ध योजना की गाड़ी जो सरेआम दिल्ली में अपने भूतपूर्व शासकों की भाषा में प्रचार करती फिरती है। सिर शर्म से झुक जाता है जब हम देखते हैं कि भारतीय वायुयानों की परिचारिकाएं या भारतीय हवाई अड्डों पर काम करने वाले अधिकारी जब हिंदी में हिदायत देते हैं तो उनकी भाषा टूटी-फूटी और संकेतों में होती है, परंतु जब अंग्रेजी में हिदायतें देते हैं, तो उच्चारण यद्यपि भारतीय, परंतु भाषा बड़ी मधुर, मंजी हुई और वाक्य पूरे होते हैं।

मेरा अंग्रेजी से कोई बैर नहीं है। बल्कि मुझे तो यह कहते हुए शर्म आती है कि यह ऐसी भाषा है जिसमें मैं आसानी से बोल सकता हूँ। लेकिन मैं उस समय पैदा हुआ था, जब हम आजाद नहीं थे और दूसरे, मैं एक व्यावसायिक बुद्धिजीवी हूँ। परंतु यही बात मेरे अपने बच्चों और मेरे पड़ोसियों के बच्चों के साथ भी हो, यह मेरी समझ में नहीं आता। अब हम आजाद हैं, अपने देश को हम राष्ट्र कहते हैं और राष्ट्र की हैसियत से हम आगे बढ़ने की कोशिश भी कर रहे हैं। लेकिन आमतौर पर स्पष्ट ही हम विश्वास करते हैं कि यह एक विदेशी भाषा के सहारे ही संभव हो सकता है। जब तक अधिकारी वर्ग के लोग अंग्रेजी में आराम से लिख पढ़ सकते हैं, तब तक हम लोग यही समझते हैं कि जहां तक भाषा और भावनाओं का संबंध है, आम जनता का कोई महत्व नहीं है।

हिंदी भाषी निरपराध

प्रश्न उठता है कि क्या वस्तुतः हमें केवल अपनी सहूलियत के लिए पुरानी विरासत को लात मार देनी चाहिए। क्या आत्मसम्मान, राष्ट्रीय गर्व जैसी कोई चीज नहीं है जो जनता की उत्पादक शक्तियों को प्रेरित कर सके और उनमें उत्साह का संचार कर सके? क्या अहिन्दी भाषी इस बात को सहन नहीं कर सकते कि हमारे हिन्दी भाषी भाइयों को भाषा की सुविधा मिल सके? अगर देश के अधिकांश लोग हिन्दी बोलते हैं, तो इसमें हिन्दी भाषियों का क्या अपराध है? अगर देश अल्प संख्यकों की भाषा को भारत की राजभाषा स्वीकार करना चाहे, तो जरूर करे। परन्तु कहीं ऐसा न हों कि हम अपनी ईर्ष्या के वशीभूत हो सबको भाषा के मामले में एक सी परेशानी में डाल दें।

अगर भारत जैसा बहु भाषा-भाषी देश राष्ट्र बनना चाहता है और मैं समझता हूं कि इसमें किसी को कोई विरोध नहीं है, तो परिणाम कुछ भी हों, हमें किसी एक भारतीय भाषा को राजभाषा स्वीकार कर ही लेना चाहिए। भाषा किसी भी राष्ट्र की अनिवार्य विशेषता है और अगर भारत को राष्ट्र बनना है, तो केवल हिन्दी ही उसकी राजभाषा हो सकती है।

7. कोई भी प्रान्त 'इतर' नहीं

— आरिगपूडि —

(जन्म से तेलगु-भाषी, शिक्षामन्त्रालय द्वारा अहिन्दीभाषी हिन्दी लेखक के रूप में पुरस्कृत)

जब कभी भाषाकी बात उठती है, तो हिन्दी और "हिन्दीतर" की भी बात उठती है। विषय का वर्गीकरण, या "विभाजन" वैज्ञानिक चिन्तनका शायद लक्षण है। वैज्ञानिक चिन्तन से "वैज्ञानिक" निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं, पर उसके प्रभाव और परिणाम, वैज्ञानिक होने मात्रसे सदा स्वस्थ रहते हों, यह सत्य नहीं है। हिन्दी और हिन्दीतर का विभाजन भी कुछ-कुछ ऐसा है।

सम्पूर्ण देश राष्ट्रभाषा हिन्दी का प्रदेश है। हिन्दीतर की कल्पना इस दृष्टि से कृत्रिम है। एक उच्चतर आदर्श की आंशिक क्षति भी।

हिन्दी के प्रोत्साहन और व्यापकता के लिए यह विभाजन कदाचित् निरापद है। पर इसकी राजनैतिक सम्भावनाएं, जो भाषा के प्रति समस्या के साथ जुड़ी हुई हैं, सम्भवतः आपत्तिजनक हैं। वे इतनी आपत्तिजनक हैं कि वे प्रोत्साहन के सदुद्देश्य को विफल कर सकती हैं।

हिन्दी को राष्ट्रभाषा बना देने के कारण ही शायद "हिन्दीतर" की कल्पना वास्तविक हो जाती है। इससे जहां हिन्दी को प्रधानता मिलती है, वहां मानना होगा, "हिन्दीतर" प्रदेश में या तो हिन्दी के प्रति तटस्थता की भावना प्रबल है, अथवा हीन भावना पनपती है, और दोनों ही न राष्ट्रभाषा के हित में हैं न राष्ट्रीयता के हित में। हित के अभाव में यह काल्पनिक वास्तविकता अवांछनीय है। और जहां तक साहित्य का सम्बन्ध है, यह अनुचित भी है।

भाषा क्षेत्रों में सीमित नहीं रहती

एक क्षेत्र की, एक सांस्कृतिक इकाई की, एक भाषा होती है, पर किसी भी भाषा का जीवन या प्रचलन उसी क्षेत्र तक सीमित नहीं रहता। भाषा की स्वाभाविक गति की कोई सीमा नहीं होती। भाषा वह द्रव्य है, जो क्षेत्र के पात्र में रखा जा सकता है, पर उसका पात्र के बाहर भी अस्तित्व है। क्षेत्र तो एक अनवरत प्रवाह का जलबन्ध—सा है। यही कारण है कि प्रत्येक मुख्य भाषा एक क्षेत्रीय होकर भी, अन्तरराष्ट्रीय होती है। अंग्रेजी भाषा एक ही है, पर उसके कई क्षेत्र हैं, और यही बात स्पेनिश और फ्रेन्च की है।

क्षेत्र की भाषा भी प्रसंगानुसार परिवर्तित होती है। भारतीय दृष्टिकोण से, अर्थात् निकट से, भारत कई क्षेत्रों में विभक्त है, और प्रत्येक क्षेत्रकी अपनी-अपनी भाषा है, परन्तु अन्तरराष्ट्रीय दृष्टिकोण से सारा देश एक राष्ट्रभाषा का एक क्षेत्र हो जाता है। निकट के

छोटे-छोटे भेद, दूर से विलुप्त हो, एक विस्तृत क्षेत्रफल का भास कराते हैं, और दोनों ही दृष्टिकोण अपनी-अपनी जगह उचित हैं।

हिन्दी का प्रदेश, जहां वह एक ही रूप में बोली और लिखी जाती है, भौगोलिक दृष्टि से बहुत ही सीमित है। इस प्रदेश में कितनी ही अपभ्रंश भाषाएं प्रचलित हैं — राजस्थानी, ब्रज, अवधी, भोजपुरी आदि। किन्तु ये एक ही जाति के भिन्न परिवार से हैं। दूसरे शब्दों में हिन्दी, हिन्दी प्रदेश में ही सबकी मातृभाषा नहीं है। यह सीखी जाती है, भले ही हिन्दी के विद्यार्थी को इसके अध्ययन में कुछ अतिरिक्त परिवेशीय लाभ मिलते हों। जिस प्रदेश को “हिन्दीतर” कहा जाता है, उसकी सबसे बड़ी विशेषता है — भाषा सम्बन्धी एकरूपता का अभाव। क्षेत्रीय दृष्टि से इसके दो भाग हो सकते हैं... एक वह जो तथाकथित हिन्दी प्रदेशका निकटवर्ती है यानी, पंजाबी, गुजराती, मराठी, बंगला और उड़िया का क्षेत्र। और दूसरा क्षेत्र दक्षिणका है, यानी तेलुगू, तामिल, मलयालम और कन्नडके क्षेत्र। यह पहले क्षेत्र से तो दूर है ही, भिन्न भी है। और ये भाषाएं, परस्पर प्रभावित होकर भी, अपना पृथक अस्तित्व रखती हैं, जो हिन्दी क्षेत्र की अपभ्रंश-सी नहीं है, परन्तु लिपि-सुसम्पन्न हैं, सुविकसित हैं।

इन दोनों क्षेत्रों को एक ही कोष्ठ में रख देना कृत्रिम ही नहीं, अन्यायपूर्ण भी है।

यदि विभाजन की ही आवश्यकता हो, तो संस्कृत कुलका भाषा-क्षेत्र, और द्रविड़ कुलका भाषा-क्षेत्र — यह विभाजन ही अधिक उपयुक्त और तर्कपूर्ण प्रतीत होता है, अथवा संस्कृत प्रभावित भाषा-क्षेत्र, और संस्कृत मुक्त भाषा-क्षेत्र।

पहले क्षेत्र में भारत की सारी भाषाएं आती हैं, और दूसरे में तमिल मात्र शायद रहती है। पर विभाजन की कृत्रिमता कुछ कम होती है। मैं इस विभाजन की प्रवृत्ति से ही असन्तुष्ट हूं। यदि किसी सुनिश्चित सुविधा के लिए यह आवश्यक भी हो, तो प्रयत्न यह रहना चाहिए कि उसकी व्यापकता इतनी विस्तृत हो कि राष्ट्रीयता के साथ वह समवस्थित हो। अर्थात् विभाजन राष्ट्रीयता का संगठक हो, विघटक न हो।

साहित्य मूलतः भाषा का होता है, क्षेत्रीयता उस पर बाद में आरोपित होती है। अंग्रेजी साहित्य चाहे वह अमरीका में बने, या ऑस्ट्रेलिया में, या भारत में ही, प्रधानतः वह अंग्रेजी का है, और बाद में अमरीका का, या ऑस्ट्रेलिया का, या भारत का होता है।

यही बात लेखक की है, वह भाषा का लेखक पहले है, और क्षेत्र का बाद में, उसकी राष्ट्रीयता या नागरिकता कुछ भी हो। निकट भूतका अंग्रेजी साहित्य कई आयरिश लेखकों की रचनाओं से सुसम्पन्न है। कई अमरीकी लेखकों की कृतियों से समृद्ध है। कई ऑस्ट्रेलियन लेखकों की प्रतिभा से प्रभावित है। साहित्य सेवा में राष्ट्रीयता अथवा नागरिकता गौण है। जन्म की भौगोलिक आकस्मिकता का साहित्य-सृष्टि से कोई सम्बन्ध नहीं है। भाषा का अवश्य है।

क्षेत्र का आरोपण साहित्येतर उद्देश्य से होता है। इससे न साहित्य का परिमाण बढ़ता है, न गुण ही। यह एक अनावश्यक संकुचित अभिमान है, जिससे साहित्य को कोई अतिरिक्त शक्ति नहीं मिलती।

क्षेत्र कुछ भी हो, भाषा कुछ आधारभूत सिद्धान्तों द्वारा अनुशासित है। और ये सिद्धान्त, भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में भिन्न नहीं हो जाते। यही बात हिन्दी की है। हिन्दी किसी भी तरह बोली जाती हो, परन्तु लिखी एक ही तरह जाती है — व्याकरण का आधार सबके लिए एक सा ही है। और शैली कोई सामूहिक प्रक्षेपण नहीं है, वह व्यक्तिगत अभिव्यक्ति है, अतः इसका क्षेत्र से कोई सम्बन्ध नहीं है। अहिन्दी क्षेत्र की लिखित हिन्दी, हिन्दी क्षेत्र की लिखित हिन्दी से भिन्न नहीं है, लिखित हिन्दी के लिए तो हिन्दी और हिन्दीतर का विभाजन नितान्त अयुक्तियुक्त-सा प्रतीत होता है।

भाषापर क्षेत्रीयता का, प्रान्तीयता का आरोपण प्रायः होता है, परन्तु वह अस्वस्थ है। इससे स्थानीय अभिमान भले ही प्रोत्साहित होता हो, पर साहित्य का विस्तार अवरुद्ध होता है और सृजनात्मक संसार में कुछ ऐसे संकुचित, क्षुद्र, तुच्छ तत्व आ जाते हैं, जो इसके सहज आकर्षण को ही क्षीण कर देते हैं। प्रान्तीयता साहित्य सृष्टि की प्रेरक नहीं है, बाधक है।

विभाजन से राष्ट्रीय एकता खण्डित

मेरी आपत्ति भाषा पर आधारित विभाजन पर जो आवश्यकता से अधिक बल दिया जा रहा है, उसके प्रति है, तत्सम्बन्धित परिप्रेक्ष्य के प्रति है। पर वास्तविकता यह है कि भारत में कई भाषाएं हैं, और उनके क्षेत्र भी हैं।

भाषाओं का एक दूसरे पर प्रभाव रहा है। भाषाओं के भिन्न होते हुए भी भारतीय समाज प्रायः सम्पूर्ण भारत में एक-सा ही रहा है — धर्म प्रभावित। साहित्य के मूल तत्व कभी भी प्रान्तीय नहीं रहे, वे हमेशा भारतीय रहे हैं।

भाषा प्रान्तीय हो, पर साहित्य क्योंकि समाज से सम्बन्धित है, और सारा भारतीय समाज एक-सा ही है, इसलिए अनिवार्य रूप से, अविभाज्य रूपसे भारतीय है।

किसी भी भारतीय भाषा की कृति अनूदित होकर किसी और की सम्पत्ति बन सकती है। उनमें समान गुण हैं और समान गुण आसानी से खपा लिये जाते हैं। एक साहित्य में दूसरी भाषाओं के साहित्य को आत्मसात् करने की विलक्षण क्षमता होती है।

हिन्दी और हिन्दीतर की कल्पना भारतीय साहित्य की एकता के कुछ विपरीत है, और राष्ट्रभाषा के सर्वप्रान्तीय रूप को ढकती है। वस्तुतः भारत में हिन्दी के लिए कोई भी प्रान्त “इतर” नहीं है।

8. हिन्दी का विरोध देश की एकता का विरोध है

— फादर कामिल बुल्के —

(सी. भास्कर राव नामक दक्षिण भारतीय के कुछ प्रश्नों के उत्तर, विदेशी होकर भी भारतीयता का वरण करने वाले, तुलसी रामायण के विशेषज्ञ और हिन्दी के विद्वान प्राध्यापक द्वारा)

विदेशी हिन्दी-विद्वान फादर कामिल बुल्के जब हमारे निमंत्रण पर हजारीबाग आए, तब हिन्दी के सम्बन्ध में उन से कुछ प्रश्न पूछे गए। फादर बुल्के की दृष्टि हिन्दी के संदर्भ में कितनी निष्पक्ष, साफ-सुथरी और तर्क संगत है, इस का सहज अनुमान उन के उत्तरों से लग सकता है।

प्रश्न: आप की समझ से क्या भारत की राष्ट्रभाषा के पद के योग्य मात्र हिन्दी ही है?

निश्चित रूप से मात्र हिन्दी ही इस पद के योग्य है। इस का यह अर्थ नहीं कि अन्य भारतीय भाषाएं अयोग्य हैं। एक शताब्दी पूर्व भी निरीक्षण के पश्चात विदेशियों ने यह स्वकीर किया था कि समस्त भारत में आसानी से समझी जाने वाली भाषा हिन्दी ही है। उस समय की हिन्दी का पर्याप्त प्रचार हो चुका था। अंग्रेजों ने सायास हिन्दी का प्रचार नहीं होने दिया, क्यों कि वे जानते थे कि इस भाषा के प्रचार से लोगों के बीच एकता बनी रहेगी। वस्तुतः समस्त भारत की एकमात्र सम्पर्क भाषा हिन्दी ही है, इसलिए व्यावहारिक रूप से हिन्दी के अतिरिक्त और कोई भी भाषा यहां की राष्ट्रभाषा नहीं हो सकती।

प्रश्न: समस्त भारत में अध्यापन के माध्यम के रूप में तथा केन्द्रीय प्रतियोगी परीक्षाओं के माध्यम के रूप में क्या हिन्दी को स्वीकार करना उचित होगा?

मेरे विचार से प्रत्येक अहिन्दी-प्रांत में अध्यापन के माध्यम के रूप में स्नातक-स्तर तक प्रांतीय भाषा को ही स्वीकार करना चाहिए तथा हिन्दी-प्रांतों में हिन्दी-माध्यम। स्नातकोत्तर स्तर के अध्यापन के लिए हिन्दी-प्रांतों में हिन्दी-माध्यम ही उचित होगा, परन्तु इस स्तर के अध्यापन-माध्यम के लिए भाषा-चुनाव की स्वातंत्रता अहिन्दी प्रांतों को मिलनी चाहिए, साथ ही केन्द्रीय प्रतियोगी परीक्षाओं के माध्यम का निर्णय भी अहिन्दी-मागारिकों पर छोड़ना ही उचित होगा, क्यों कि हिन्दी के विरोधी न बढ़ें, इस बात पर भी ध्यान रखना आवश्यक है।

प्रश्न: दक्षिण में हिन्दी-विरोध के सम्बन्ध में आप की क्या प्रतिक्रिया है?

दक्षिण द्वारा हिन्दी-विरोध मेरे लिए दुख का विषय है। यह बात कोई भी व्यक्ति समझ सकता है कि यहां हिन्दी ही एक ऐसी भाषा है, जो सभी स्तरों के भारतीयों को आपसी विचारों के आदान-प्रदान की सुविधा प्रदान करती हैं। दक्षिण में जा कर अगर मैं

विदेशी भाषा का प्रयोग करूं तो वह भारत का अपमान है और अगर भारतीय भाषा का ही प्रयोग करना चाहूं तो मुझे हिन्दी ही बोलनी पड़ेगी। सभी लोग ऐसा ही अनुभव करते हैं। वास्तव में हिन्दी ही इस देश की एकता की भाषा हैं, इस लिए हिन्दी का विरोध करना देश की एकता का ही विरोध करना है।

प्रश्न: भाषा—समस्या के प्रसंग में हिन्दी—विरोध और हिन्दी—समर्थन, यही दो पक्ष दिखते हैं। आप किस पक्ष को अधिक तीव्र, तार्किक और सक्रिय समझते हैं?

वस्तुतः हिन्दी के सम्बन्ध में ये दोनों ही स्थितियां भारत में हैं। तीव्रता, तार्किकता और सक्रियता का प्रसंग छोड़ भी दें तो भी मेरा अत्यधिक दृढ़ विश्वास है कि हिन्दी—विरोधियों में हिन्दी तथा देश के प्रति स्वाभिमान जगेगा और उन में सद्बुद्धि आएगी, यह निश्चित है। क्यों कि वे परिस्थिति को नहीं समझ पा रहे हैं। भारतीय परम्परा के विरुद्ध, एक विदेशी भाषा को यहां बनाए रखना असंभव है। इस में संदेह नहीं कि कुछ समय बाद हिन्दी का विरोध करने वाले लोग यहां नहीं रह जाएंगे।

प्रश्न: त्रिभाषा—फार्मूला के अंतर्गत क्या आप संस्कृत को रखने के पक्ष में हैं?

मेरी धारणा तो यह है कि संस्कृत के ज्ञान के आभाव में कोई भी व्यक्ति भारतीय दृष्टिकोण से सुशिक्षित नहीं हैं। संस्कृत नहीं जानने वाला भारतीय व्यक्ति अपनी परम्परा और संस्कृति का अध्ययन नहीं कर पाएगा, इस लिए ऐसा मार्ग प्रस्तुत करना उचित होगा, जिस से सभी भारतीय नागरिकों को संस्कृत पढ़ने का अवसर मिले। उच्चतर माध्यमिक स्तर पर संस्कृत को निश्चित रूप से पाठ्यक्रम में स्थान मिलना चाहिए। मैं यह अनिवार्य नहीं मानता कि इस स्तर पर हर विद्यार्थी अंग्रेजी सीखे। संस्कृत को अनिवार्य विषय के रूप में स्वीकार करना अधिक सार्थक और स्वस्थ बात होगी और यह तभी संभव है, जब संस्कृत को भी त्रिभाषा—फार्मूले के अंतर्गत स्थान मिले।

प्रश्न: एक ओर जहां हिन्दी—समर्थन का क्षेत्र व्यापक हो रहा है, वहां दूसरी ओर हिन्दी की नई पीढ़ी का साहित्यकार विदेशी तथा विशेष कर अंग्रेजी—साहित्य से बुरी तरह प्रभावित होता जा रहा है और प्रभावित होना ही बौद्धिकता की बात समझता है। क्या यह स्थिति हिन्दी के हित में मानी जा सकती है?

मेरे विचार से अंग्रेजी—माध्यम द्वारा उच्चशिक्षा मिलने के कारण समस्त भारत पर अंधानुकरण और मानसिक पंगुपन छाता जा रहा है। मैं मानता हूं कि सारी दुनिया आज कल छोटी होती जा रही है और आदान—प्रदान के अवसर भी पर्याप्त बढ़ गए हैं। यह होना भी चाहिए। मैं इस के औचित्य पर संदेह नहीं करता, परन्तु भारत में अनुकरण की ही प्रधानता हो चली है। आज का नया हिन्दी—साहित्यकार अनुकरण से अपने को मुक्त नहीं कर पा रहा है। हिन्दी—साहित्यिक परम्परा के अनुकूल एजरा पाउण्ड के बिम्बवाद को स्वीकार किया जा सकता है या नहीं, इस पर विचार किए बिना ही उस की नकल करते जाना सरासर गलत है। आवश्यकता इस बात की है कि अंग्रेजी—साहित्य की ग्राह्य बातों

को आत्मसात् करने के पश्चात् भारतीय बुद्धि और प्रतिभा के द्वारा उस को मौलिक रूप प्रदान करें।

प्रश्न: आप की समझ से किस भारतीय भाषा का सर्वाधिक प्रचार विदेशों में हुआ है?

निश्चित रूप से हिन्दी का ही। विदेशों के अनेकानेक विश्व-विद्यालयों में हिन्दी भाषा के अध्यापन की व्यवस्था है। फलस्वरूप फ्रांस, अमेरिका, जर्मनी तथा रूस आदि सभी महत्वपूर्ण देशों में हिन्दी का प्रचार हुआ है। मेरा अनुभव यह है कि भारत के भाषागत विवाद के बावजूद विदेशी विश्वविद्यालयों में भारत की भाषा के रूप में सर्वप्रथम हिन्दी भाषा को ही जाना-माना जाता है। कहीं-कहीं अन्य भारतीय भाषाएं भी मिलती हैं, परन्तु हिन्दी का स्थान सर्वोपरि है।

प्रश्न: हिन्दी-विरोध, अंग्रेजी की महत्वपूर्ण स्थिति, सरकारी नीति की अनिश्चितता तथा अस्पष्टता के बावजूद क्या भविष्य में हिन्दी-भाषा के समुचित विकास और प्रचार में आप विश्वास रखते हैं?

मेरी धारणा है कि हिन्दी का विकास कोई भी नहीं रोक सकता। सरकार की सहायता या उदासीनता का कोई प्रभाव हिन्दी के विकास पर नहीं पड़ेगा। मुझे पूर्ण विश्वास है कि क्रमशः हिन्दी-विरोध समाप्त होता जाएगा और अंग्रेजी का समर्थन भी। वस्तुतः हिन्दी की प्रगति में वे ही लोग बाधक हैं, जो अपनी धारा से निकल नहीं पाते। ऐसे लोग अंग्रेजी में ही सब कुछ करने के आदी हो चुके हैं और वही सब हिन्दी में करने के लिए उन्हें अतिरिक्त प्रयास करना पड़ेगा, पर वे इस प्रयास से ही बचना चाहते हैं। अब अधिकांश छात्र हिन्दी-माध्यम से ही शिक्षा पा रहे हैं, अतः भविष्य में यह बाधा भी समाप्त हो जाएगी। हिन्दी एक समर्थ भाषा बनती जा रही है। कोई भी विषय इस माध्यम से पढ़ाया जा सकता है। पारिभाषिक शब्दों के आभाव में कुछ कठिनाई होती है, पर सरकार की ओर से प्रकाशित पारिभाषिक शब्दावली बहुत अच्छी लगी। इस से यह कठिनाई भी कम होती जाएगी।

प्रश्न: हिन्दी को राष्ट्रभाषा और राजभाषा मान लिया जाए तो क्या इस से प्रांतीय भाषाओं के समुचित विकास में बाधा आएगी?

शिक्षा के क्षेत्र में स्नातक-स्तर तक हर प्रांत में प्रांतीय भाषा को ही माध्यम के रूप में स्वीकार किया जाए तथा प्रांतीय सरकारी कार्य भी प्रांतीय भाषा में ही हों, तो इस से प्रांतीय भाषाओं की मर्यादा बनी रहेगी, परन्तु अंतर प्रांतीय सरकारी सम्पर्क के लिए अंग्रेजी के बदले हिन्दी का प्रयोग करना उचित होगा। तब हिन्दी के कारण प्रांतीय भाषाएं संकट में पड़ने के बजाय और विकास पाएंगी, क्योंकि हिन्दी के पारिभाषिक शब्द संस्कृत के आधार पर बनाए जा रहे हैं। चूंकि संस्कृत एक समृद्धतम भारतीय भाषा है, इस लिए हिन्दी के ऐसे शब्द बड़ी सुगमता से प्रांतीय भाषाओं में भी खप सकते हैं।

प्रश्न: जब हिन्दी के प्रति उत्तर-भारतीयों में दृढ़ मनोबल का अभाव है और केन्द्रीय सरकार भी हिन्दी की घोषणा राष्ट्रभाषा के रूप में करने में संकोच करती है, तब अहिन्दी-भाषी या विदेशी व्यक्ति के लिए हिन्दी पढ़ने का क्या आकर्षण हो सकता है?

मैं स्वयं को हिन्दी-भाषी ही समझता हूँ और सचमुच हिन्दी-भाषियों की हिन्दी के प्रति उदासीनता देख कर मुझे लज्जा आती है। मेरी समझ में नहीं आता कि हिन्दी-प्रांतों की जनता, अंग्रेजी-माध्यम से शासन किस प्रकार बर्दाश्त कर रही है। स्वयं जनता ही प्रांतीय सरकारों को हिन्दी में समस्त कार्य करने के लिए बाध्य कर सकती है। जहां तक हिन्दी वालों में हीनता के बोध का प्रश्न है, यह मात्र उन्हीं तक सीमित नहीं है। मुख्य रूप से अंग्रेजी-माध्यम से उच्च शिक्षा पाने के कारण ही भारतीयों में अपनी भाषाओं के प्रति हीनता का बोध आ गया है। वस्तुतः यह एक बीमारी है, जो पूरे देश में छा गई है। आवश्यकता इस बात की है कि व्यक्ति मातृभाषा द्वारा शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् अपनी प्रतिभा के पूरे विकास के बाद विदेशी साहित्य को पचा कर उस का भारतीय रूप प्रस्तुत करे। हां, हिन्दी पढ़ने का आकर्षण अहिन्दी-भाषी या विदेशी में इस लिए भी जागेगा कि प्रत्येक व्यक्ति यह अनुभव करता है कि हिन्दी-भाषा के ज्ञान के अभाव में भारत में सुचारु रूप से कार्य नहीं चल सकते। समस्त भारत के भ्रमण के लिए भी हिन्दी जानना अनिवार्य हो जाता है। भारत भर में हर स्थान में आसानी से बोली समझी जाने वाले भारतीय भाषा हिन्दी ही है। अतएव इस भाषा को सीखने की आवश्यकता हो जाती है। यही मुख्य कारण या आकर्षण माना जा सकता है।

प्रश्न: आप के विचार से विदेशों में तथा अहिन्दी-भाषी क्षेत्र में हिन्दी के समुचित प्रचार तथा प्रसार के क्या उपाय हो सकते हैं?

जब समस्त हिन्दी-प्रांतों में हिन्दी को राजभाषा का स्थान मिलेगा, जब उत्तर भारत के सभी विश्वविद्यालयों, सरकारी कार्यों एवं नागरिक जीवन में हिन्दी का ही पूर्ण प्रचलन हो जाएगा और जब हिन्दी में मौलिक विचार प्रस्तुत किए जाएंगे, तब हिन्दी भाषी क्षेत्र स्वतः हिन्दी-भाषा के समुचित अध्ययन-अध्यापन की ओर ध्यान देने लगेंगे। साथ ही जब समस्त देश में, हिन्दी में भारतीय परम्परा और संस्कृति को सुरक्षित रखते हुए अनुकरण के स्थान पर मौलिकता आ जाएगी, तब स्वतः विदेशी भी हिन्दी पढ़ने को प्रेरित होंगे। अपनी ओर से अपनी भाषा का कोरा प्रचार करना उचित नहीं लगता। हिन्दी की मर्यादा, शक्ति और मौलिकता के विकास के साथ ही हिन्दी का स्वतः प्रचार बढ़ता जाएगा।

9. शोषण और लूट का जबर्दस्त हथियार — अंग्रेजी

— जार्ज फर्नांडीस —

(जन्म से मराठी भाषी, ईसाई, प्रसिद्ध श्रमिक नेता संसद-सदस्य और सामाजिक कार्यकर्ता)

मुझे जैसे आदमी को यह आरोप अक्सर सुनना पड़ता है कि वह कानून को तोड़ता है। पर राजभाषा के मामले में तो संविधान पिछले 17 साल से टूट रहा है और वह भी खुद सरकार की तरफ से। भाषा के प्रश्न पर संविधान ने स्पष्ट निर्देश दिया था कि देश के राजकाज में अंग्रेजी का इस्तेमाल कम होता जाएगा और 1965 में वह पूरी तरह से हट जायेगी। आज जब फिर अंग्रेजी के चलन को बनाये रखने के लिए नया राजभाषा विधेयक आया है, तब हम जैसे लोग पूछना चाहेंगे कि इतने वर्षों तक क्या किया! सच्चाई यह है कि अंग्रेजी मोह के उस पाप को छिपाने के लिए ही अब यह सब कुछ किया जा रहा है। आज भी हमारे नेता और अफसर जनवादी भाषा नीति को सच्चे दिल से स्वीकार करने में घबरा रहे हैं।

आखिर यह जनवादी भाषा-नीति क्या है? पिछले डेढ़-दो सौ साल के इतिहास की रोशनी में इसका एक ही मतलब है — अंग्रेजी हटाओ, मातृभाषाएं लाओ। अंग्रेजी हटाओ, क्योंकि वह हमारे सार्वजनिक जीवन और व्यवहार को बांधे रखती है; अंग्रेजी हटाओ, क्योंकि वह इस देश की आम जनता और शासक गिरोह के बीच की एक नकली दीवार है, जिसके रहते न लोकशाही पनप सकती है, न समाजवाद आ सकता है। और इन सबसे ऊपर, अंग्रेजी हटाओ, क्योंकि सार्वजनिक जीवन परसे उसके दबदबे को खत्म किये बिना देशकी लोकभाषाओं का विकास हो नहीं सकता।

संसद में मातृभाषाओं की स्वीकृति

पिछले दस-पन्द्रह वर्षों में भाषा के मामले को लेकर बहुत-सी झूठी बातें फैलायी गयी हैं। मातृभाषाओं के विकास के लिए चलाये जानेवाले 'अंग्रेजी हटाओ' आन्दोलन के विरुद्ध अंग्रेजी अखबारों ने बड़ी चालाकी से और बहुत सोच-समझकर यह झूठा प्रचार किया है कि अंग्रेजी के हटते ही अहिन्दी भाषाओं का विकास रुक जाएगा, उनके ऊपर किसी एक भाषा का, उदाहरण के लिए, हिन्दी का जोर तथा दबदबा बढ़ जाएगा। भारतीय जनता की मातृभाषाओं में फूट डालने का यह तर्क कितना झूठा और थोथा था, यह बात तो लोकसभा के पिछले अधिवेशन में कन्नडभाषी संयुक्त सोशलिस्ट सदस्य श्री ज.ह. पटेल ने सिद्ध कर दी। 'अंग्रेजी हटाओ' की नीति में विश्वास रखने वाले श्री पटेल ने अपने पहले ही भाषण से संसद में कन्नड और उसके साथ-साथ सभी भारतीय भाषाओं को मान्यता दिला दी। अब यह साबित हो गया कि हिन्दी तथा दूसरी भारतीय भाषाओं के बीच टकराव की बात बेबुनियाद है। हम चाहेंगे कि द्रविड मुन्नेत्र कषगम जैसी संस्थाएं इस घटना से कुछ सबक लें और अंग्रेजी का मोह छोड़ कर तमिलनाडु में सच्चे दिल से तमिल चलायें।

मेरे विचार में संसद में अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में मातृभाषाओं की यह स्वीकृति हमारे भावी भाषायी स्वरूप की दृष्टि से एक क्रान्तिकारी और निर्णायक मोड़ है। इससे अहिन्दी भाषी लोगों का अंग्रेजी मोह खत्म होगा; उन सब क्षेत्रों और प्रदेशों के राजकाज में मातृभाषाओं की प्रतिष्ठा का आन्दालेन जोर पकड़ेगा और अंग्रेजी हटने के दौर में स्वतः ही एक अखिल भारतीय सम्पर्क भाषा विकसित होगी।

मैं जानता हूँ कि संसदके इस निर्णय के बावजूद कुछ सदस्यों के मन में यह शंका है कि अंग्रेजी में बोले बिना वे अपनी बात प्रभावशाली ढंग से नहीं उठा पायेंगे। कुछ को यह डर है कि समाचार पत्रों में उनके संसदीय काम की, उन के मामलों, सवालों जवाबों की पूरी रिपोर्ट नहीं छपेगी। पर मैं सोचता हूँ कि एक बार संसद में विभिन्न भारतीय भाषाओं में तुरंत अनुवाद की व्यवस्था हो जाए, तो ये सब शंकाएं और डर दूर हो जाएंगे। फिर संसद के कामकाज में अंग्रेजी का महत्व अपने आप घटने लगेगा। लेकिन इस बीच मेरी मातृ भाषाओं के प्रेमी संसद सदस्यों को एक चेतावनी भी है। यदि वे इस भरोसे बैठे रहें कि अनुवाद की व्यवस्था होने के बाद ही मातृभाषा का प्रयोग करेंगे, तब तक तो अंग्रेजी में ही बोले, तो फिर वह एक जीती हुई बाजी हार जाएंगे। असल में भाषा की यह सारी समस्या पक्के इरादे की समस्या है। पक्के इरादे की कमी ने ही इस सवाल को इतना उलझाया है। एक बार इरादा पक्का हो जाए, तो फिर उसे हल करने के रास्ते अपने आप निकल आते हैं। इस बारे में मैं अपना एक अनुभव बताता हूँ। जब मैं 1961 में मुंबई महापालिका में चुनकर आया, तो वहां का कामकाज सिर्फ अंग्रेजी में चलता था। मुझे यह जानकर हैरत हुई कि अंग्रेजी में कामकाज की इस एक गलत परंपरा के कारण कई पुराने सदस्य महापालिका की कार्यवाही में हिस्सा तक नहीं ले पाते थे, वे मूक दर्शकों की तरह बैठे रहते थे। मैंने तथा मेरे साथियों ने महापालिका में पहली बार भारतीय भाषाओं का सवाल उठाया और इस बात पर जोर दिया कि महापालिका का कारोबार मराठी, गुजराती, हिंदी उर्दू या जनता की किसी भी भाषा में हो, लेकिन अंग्रेजी में नहीं। यकीन करिए कि हमारी इस मांग से महापालिका के उन बेजुबाँ सदस्यों के चेहरे एकाएक चमक उठे और महापालिका पर से एक बार अंग्रेजी की तालाबंदी टूटी, तो सभी सदस्य उस की बैठकों में खुलकर अपनी बात कहने लगे। इसलिए मेरा कहना है कि यदि मातृभाषा प्रेमी संसद सदस्यों ने अभी भी अनुवाद की व्यवस्था नहीं होने तक बहाना लेकर अंग्रेजी हटाने के संकल्प से भागने की कोशिश की तो फिर अंग्रेजी कभी हट नहीं पाएगी।

जहां तक विभिन्न भाषाओं में एक साथ तुरंत अनुवाद की व्यवस्था का सवाल है, यान्त्रिक व्यवस्था में उठने वाली अड़चनों और कठिनाइयों की बात जाने कितनी बार देश और सदन के सामने दोहराई गई है। परंतु पिछले दिनों संसद की वर्तमान अनुवाद व्यवस्था का निरीक्षण करने के बाद मैं इस नतीजे पर पहुंचा हूँ कि मौजूदा यंत्र भी कम से कम 6 भाषाओं में अनुवाद कर सकता है। अभी स्थिति यह है कि उसके सिर्फ दो केंद्र काम करते हैं – अंग्रेजी और हिंदी के। चार और भाषाओं में अनुवाद के लिए 4 अतिरिक्त

केंद्रों की व्यवस्था जरूर करनी पड़ेगी। इस संबंध में मैंने लोकसभा अध्यक्ष का ध्यान भी आकृष्ट किया है।

जन क्रांति का नया मंत्र – अंग्रेजी हटाओ

अब एक बात देश के आर्थिक सवाल और उनके साथ भाषा समस्या के रिश्ते के बारे में इधर कुछ लोगों की यह आदत हो गई है कि वे आर्थिक सवालों पर राजनीतिक दलों की राय उनके दृष्टिकोण के अनुसार उन्हें प्रगतिशील या प्रतिक्रियावादी के नाम से संबोधित करते हैं। जब हम जैसे आर्थिक सवालों के लिए लड़ने वाले लोग भाषा के सवाल को उठाते हैं, अंग्रेजी के एकाधिकार के खात्मे तथा लोक भाषाओं में कामकाज की बात करते हैं, उसके लिए आंदोलन करते हैं तो हमारे कुछ प्रगतिशील दोस्त नाक भौं सिकोड़ते हैं। वे पूछते हैं, “देश के मुख्य सवाल तो आर्थिक हैं, आप लोग कहां इस भाषा के झगड़े में अपनी शक्ति नष्ट कर रहे हैं।” ऐसे लोगों को हमारा एक ही जवाब हो सकता है कि प्रगतिशीलता की एकमात्र कसौटी व्यापक जनहित है। देश के करोड़ों लोगों को उनकी कटी हुई जबान लौटाने के लिए जरूरी है कि उनके मुंह पर जड़ा हुआ अंग्रेजी का ताला टूटे, उनके भाग्य का फैसला करने वाला समूचा राजकाज दफ्तरों का कामकाज और अदालतों के फैसले उनकी भाषा में हों। आखिर प्रगतिशीलता और क्रांतिकारिता दिखाने वाले हमारे यह दोस्त क्यों भूल जाते हैं कि इस देश में अंग्रेजी का वर्चस्व भी शोषण और लूट का एक जबरदस्त हथियार है। अंग्रेजी ने साफ तौर से देश को पहले और दूसरे दर्जे के नागरिकों के गिरोहों में बांट दिया है। ऐसी स्थिति में जो भी राजनीतिक दल या नेता इस या उस कारण से जाने या अनजाने में अंग्रेजी के वर्तमान प्रभुत्व को, उसके राक्षसी साम्राज्यवाद को चलते रहने देना चाहते हैं, उन्हें भी मैं तो प्रतिक्रियावादी ही मानता हूं – फिर उनके आर्थिक सिद्धांत कितने ही क्रांतिकारी क्यों ना हों।

जनवादी भाषानीति के बिना क्रांतिकारी आर्थिक सिद्धांतों और आंदोलनों की क्या हालत होती है इसका एक उदाहरण मैं मजदूर-आंदोलन में अपने अनुभव से दे सकता हूं। इस बात की चर्चा अक्सर होती रहती है कि स्वयं मजदूर ही अपनी यूनियनों के नेता हों, उनमें से ही नये नेता तैयार किये जाएं। और यह जरूरी भी है, कम से कम हम जैसे लोगों की दृष्टि में तो, जो मजदूर-आंदोलन को एक व्यापक सामाजिक परिवर्तन का हथियार समझते हैं, उसे जानदार बनाना चाहते हैं। परन्तु देश के राजकाज में अंग्रेजी के मौजूदा रुतबे को रखकर क्या यह मुमकिन हो सकता है? मजदूरों की मांगें तैयार करने, तरह-तरह की समझौता वार्ताओं और अदालतों में उनके हितों का प्रतिनिधित्व करने, उनकी वकालत करने के लिए आज जितना अंग्रेजी पर निर्भर रहना पड़ता है, उसे देखकर यह कैसे उम्मीद की जा सकती है कि मजदूर-आंदोलन मध्यमवर्गीय नेतृत्व से मुक्त हो सकेगा; उसके अपने जानदार नेता निकल सकेंगे; उसकी कोई देश-निर्माणकारी दिशा बन सकेगी?

फिर मजदूर-आंदोलन की यह समस्या तो एक उदाहरण है। मुख्य समस्या तो बहुत बड़ी है — एक भूखे, गरीब और पिछड़े हुए देश में एक नयी जान डालने, 50 करोड़ लोगों में से हजारों-लाखों नये नेता बनाने, देश में तेजी से कल कारखाने लगाने के लिए मिस्त्री और वैज्ञानिक तैयार करने, अशिक्षा और अज्ञान से युद्ध के पैमाने पर लगातार लड़ सकने वाले अध्यापक, बीमारियों और गन्दगी के खिलाफ जेहाद बोलनेवाले डॉक्टर, खेत-कारखानों में नये ढंग के औजारों से पैदावार बढ़ाने वाले किसान-मजदूर तैयार करने का काम। क्या यह इतना बड़ा काम अंग्रेजी के माध्यम से पूरा हो सकेगा? देश के पढ़े-लिखे लोगों को आम जनता से अलग करने वाली अंग्रेजी भाषा क्या इस आनेवाली जबर्दस्त राष्ट्रीय क्रान्ति में मदद कर सकेगी? पिछले दिनों देश के विभिन्न भागों के नौजवानों से, नयी उम्र के लड़के और लड़कियों से अपने सम्पर्क के द्वारा तो मैं इस नतीजे पर पहुंचा हूं कि अंग्रेजी के रहते अधूरी राष्ट्रीय क्रान्ति को पूरा करने की बात तो दूर, हम अपने नौजवानों की मायूसी तक दूर नहीं कर सकते। आप विश्वास कीजिए कि आज हमारे नौजवानों के चेहरों पर उम्मीद की हल्की-सी चमक तक नहीं रह गयी है। अंग्रेजी की जरूरी पढ़ाई के कमरतोड़ बोझ और अंग्रेजी माध्यम से अधूरे विषय ज्ञान की दोहरी चक्की में पिस कर आज वे अपने आपको बेसहारा पाते हैं, उनकी सारी महत्त्वकांक्षाएं टूट चली हैं, जबकि उनकी प्रतिभा का कोई उपयोग तक नहीं हो रहा है। कभी-कभी हमें आश्चर्य होता है कि हम कितने बड़े धोखे में जी रहे हैं। क्या इन निराश, हताश, मायूस नौजवानों को लेकर ही हमारे नेता सुखी और समृद्ध देश के निर्माण की बड़ी-बड़ी बातें करते हैं? क्या अंग्रेजी को बनाये रखकर इन निराश नौजवानों को आशा का कोई हल्का-सा आभास भी मिल पायेगा? यदि नहीं, तो फिर अंग्रेजी हटाने के प्रश्न पर समझौता कैसा, चन्द अंग्रेजी परस्तों को खुश करने के लिए देश के भविष्य के साथ यह भयानक विश्वासघात क्यों?

संसद के इस अधिवेशन में आए राजभाषा विधेयक के रूप में भारतीय भाषाओं पर अंग्रेजी दां लोगों के इस खतरनाक प्रहार को हम नाकामयाब कर देंगे। लेकिन यदि बहुमत के बल पर यह विधेयक स्वीकार भी हो जाता है, तो भी अंग्रेजी के मौजूदा एकाधिकार के खिलाफ हमारी यह लड़ाई खत्म नहीं होगी। राज्यसत्ता पर हावी रहने की अंग्रेजी परस्तों की इस जनताद्रोही साजिश के बावजूद हम हर कदम और हर मोर्चे पर अंग्रेजी के विरुद्ध भारतीय भाषाओं के मोर्चे को मजबूत करेंगे और तब तक लड़ते रहेंगे, जब तक अंग्रेजी के सहारे चलाया जाने वाला यह शोषण समाप्त नहीं हो जाता।

10. सांस्कृतिक एकता के लिए हिन्दी आवश्यक

— प्रो. चन्द्रहासन —

(तमिल भाषी और हिन्दी निदेशालय के निदेशक से डॉ. विनय की एक भेंट वार्ता)

प्रश्न — “पिछले आम चुनावों की पृष्ठभूमि में, जिस में मद्रास में द्रविड़ मुनेत्र कषगम की विजय हुई है, क्या आप अपने भाषा विषयक विचार स्पष्ट करेंगे?”

“मेरा दृढ़ मत है कि हिन्दी ही एकमात्र ऐसी भाषा है, जो सम्पूर्ण देश की सम्पर्क-भाषा ही नहीं, अपितु संस्कृति और सभ्यता की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम है।

“प्रादेशिक भाषाएं क्षेत्रीय दृष्टिकोण से जनता के सांस्कृतिक जीवन की अभिव्यक्ति करती हैं, और वे भी महिमामयी हैं, किन्तु राष्ट्रव्यापी दृष्टिकोण और सांस्कृतिक सेतु की प्रतिष्ठा के लिए हिन्दी की सर्वस्वीकृति आवश्यक है। दक्षिण भारत के अनेक मान्य हिन्दी-समर्थक राष्ट्रीय आन्दोलन के सिलसिले में देश-सेवा के क्षेत्र में कार्य करते हुए हिन्दी के कार्य के लिए आगे आए थे। उन की लगन और निष्ठा से हिन्दी का कार्य तेजी से आगे बढ़ा। इन में ऐसे अंग्रेजी-दां भी बहुत थे, जिन के सामने हिन्दी का प्रचार करते हुए, यह सवाल नहीं उठा कि हिन्दी के आने पर अंग्रेजी हटाई जाएगी या हिन्दी के प्रचार से उन की मातृभाषा को नुकसान पहुंचेगा।”

हिन्दी विरोधियों के चार वर्ग

प्रश्न—“दक्षिण भारत ने हिन्दी को अनेक प्रबल समर्थक दिए हैं, फिर भी इतने व्यापक और सामूहिक रूप से हिन्दी के विरोध का क्या कारण है?”

“दक्षिण में हिन्दी का विरोध करने वालों को मैं चार वर्गों में रखता हूं। प्रत्येक वर्ग के अपने अलग कारण हैं और राजनीतिक दलबन्दी से यह विरोध और भी अधिक उग्र हो कर प्रकट होता है। पहला वर्ग उन अंग्रेजी प्रेमियों का है जो स्वतंत्रता से पूर्व कई अर्थों में स्वतंत्रता के भी विरोधी थे। इस वर्ग ने कांग्रेस का विरोध भी इसी लिए किया था कि कांग्रेस स्वतंत्रता के लिए संगठित मोर्चा बना कर लड़ रही थी और उस ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा भी घोषित कर दिया था। ये लोग कांग्रेस के विरोधी बने रहे, साथ में हिन्दी का भी विरोध करते रहे। जब संविधान ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा पद पर आसीन कर दिया, तब उन्होंने अंदर से उस को मान कर ऊपर से विरोध करना शुरू किया। और जब भी किसी कोने से अंग्रेजी का समर्थन होता, तभी ये लोग भी चिल्ला पड़ते।

“दूसरा वर्ग राजनीतिज्ञों का है जिन को अपनी सत्ता जमाने और अस्तित्व बचाने के लिए एक मंच की आवश्यकता थी। उन्होंने भोली जनता को हिन्दी के विरोध में भड़काया। उन में से कुछ ने तो पुरानी आर्य-अनार्य की बात कर के इस विरोध को और भी अधिक उग्र बनाया। राजगोपालाचार्य भी इसी वर्ग में आते हैं—अपनी राजनीतिक सस्ती लोकप्रियता

के लिए उन्होंने हिन्दी-विरोधी मंच तैयार किया, जब कि हालत यह है कि पहले के किए गए हिन्दी-समर्थन को अस्वीकार करना उन के बस की बात नहीं, इसलिए वे नए तर्क ढूँढते हैं।

“तीसरे वर्ग में वे आते हैं जो हृदय से यह सोचते हैं कि हिन्दी के विकास से तमिल की या अन्य दक्षिण-भाषाओं की प्रगति अवरुद्ध हो जाएगी। इसी वर्ग में वे व्यक्ति भी हैं जो आई.ए.एस. – जैसी प्रतियोगी परीक्षाओं में हिन्दी वालों की प्रधानता होने के भय से हिन्दी का विरोध करते हैं।”

प्रश्न: मैंने बीच में प्रश्न करते हुए कहा – “क्या आप यह अनुभव करते हैं कि हिन्दी को स्वीकार करने से तमिल या अन्य किसी प्रादेशिक भाषा की प्रगति में अंतर आएगा?”

चन्द्रहासन जी ने दृढ़ता से उत्तर दिया—“बिलकुल नहीं। किसी भी भाषा की प्रगति से दूसरी भाषा की प्रगति में बाधा नहीं आती। और हिन्दी के विकास से तो प्रादेशिक भाषाएं और भी उन्नत होंगी। एक भाषा-ज्ञान से दूसरी भाषा का ज्ञान पुष्ट होता है। सब से बड़ी बात यह है, जो अधिकांश हिन्दी-विरोधियों को जान लेनी चाहिए कि वे अंग्रेजी का नारा छोड़ें और अपनी मातृभाषा का नारा लगाएं – उस के लिए ऐसा हल सोचा जा सकता है कि हिन्दी के साथ प्रांतीय भाषाएं भी उन्नति करें, पर मूल प्रश्न तो यह है कि चारों तरफ से अंग्रेजी का विरोध हो, किन्तु दक्षिण भारतीय स्वयं अपनी शक्ति से अपरिचित हैं, उन्हें यह बात सरलता से समझ लेनी चाहिए कि जो लोग थोड़े से समय में अंग्रेजी पर अधिकार कर सकते हैं, वे उस से कम समय में हिन्दी-भाषियों से हिन्दी पर अधिक अधिकार करने में समर्थ हैं।

अपनी छूटी हुई बात का क्रम जोड़ते हुए उन्होंने ने कहा कि चौथा वर्ग पश्चिम प्रेमियों का है। उन्हें प्रो-अमेरिकी या प्रो-इंगलिश कहा जा सकता है। ये लोग आंग्ल-सभ्यता में रहने के आदी हो गए हैं और यह समझते हैं कि अंग्रेजी छोड़ कर हिन्दी को अपनाने में उस वातावरण से भी दूर होना पड़ेगा। उन के सामने भाषा, मातृभाषा या राष्ट्रभाषा का प्रश्न नहीं, अपने आनंद और वैभव का प्रश्न है।”

प्रश्न—“क्या जन-साधारण में भी हिन्दी का विरोध इतना उग्र है?”

उत्तर—“कतई नहीं। सामान्य जनता में यह विरोध उतना नहीं है, जितना प्रचार किया जाता है। उक्त वर्गों के लोग सामान्य जनता को भाषा के नाम पर बरगलाते हैं। द्रविड़ मुनेत्र कषगम की जीत भी भड़काने के कारण ही हुई है। सामान्य जनता में हिन्दी का प्रचार तेजी से हो रहा है। इस का प्रमाण तो प्रतिवर्ष हिन्दी की परीक्षाओं में बैठने वाले विद्यार्थी हैं, राजनीतिक रूप से जबर्दस्त विरोध के होते हुए भी जनता में हिन्दी पढ़ने की इच्छा अधिक है। हां, उच्च स्तर पर विरोध होने के कारण हिन्दी-प्रचार के साधन व्यापक रूप में कोई प्रभाव नहीं डाल पाते।

प्रश्न—“दक्षिण में हिन्दी जानने वाले क्या वर्तमान हिन्दी-साहित्य की प्रगति से अवगत हैं?”

हिन्दी का अध्ययन अभी तक प्रचार की दृष्टि से ही अधिक हुआ है, अतः हिन्दी-साहित्य का अध्ययन उपेक्षाकृत कम हुआ है। दक्षिण भारतीयों को हिन्दी-साहित्य में रुचि है। ऐसे सैकड़ों विद्यार्थी हैं, जो मलयालम के अतिरिक्त हिन्दी की रचनाएं पढ़ते हैं। वहां के पुस्तकालयों में हिन्दी की काफी पुस्तकें हैं और कुछ वर्षों से दक्षिण के विश्व-विद्यालयों में स्नातकोत्तर कक्षाओं की भी व्यवस्था की गई है। अनेक विद्वानों ने हिन्दी में शोध-कार्य भी किया है। डॉ. भास्कर नायर, केरल के पहले हिन्दी के डॉक्टर हैं। इसके अतिरिक्त, डॉ. रामन नायर, डॉ. जॉर्ज, डॉ. गणेशन, डॉ. शंकर राज नायडू आदि विद्वानों ने शोध-कार्य किया और वे हिन्दी के अनुकूल वातावरण बनाने में पूरे मनोयोग से कार्य कर रहे हैं। इधर रचनात्मक साहित्य भी लिख गया है। शिनाय, अरिगपुडि चन्द्रकान्त कुसूनूरका, केशवराव महागांवकर, वालशौरि रेड्डी आदि अनेक लेखक हिन्दी में रचनात्मक साहित्य लिख रहे हैं। यह सब कुछ इस बात का प्रमाण है कि अनेक कोनों से विरोध के होते हुए भी हिन्दी ने दक्षिण में बहुत सफलता प्राप्त की है।”

प्रश्न—“आप हिन्दी-भाषियों को दक्षिण भारतीयों में हिन्दी के प्रति प्रेम उत्पन्न करने के लिए क्या सुझाव देते हैं?”

“मैं कई बार कह चुका हूँ कि हिन्दी-भाषी अपना सारा कार्य हिन्दी में कर के उन के लिए आदर्श उपस्थित करें। अभी हिन्दी के प्रति उत्तर भारत में ही पूरा सम्मान नहीं दिखाई देता, तो फिर अपने घर में उपेक्षित भाषा का दूसरे के घर में सम्मान कैसे होगा।”

यदि सम्पूर्ण उत्तर प्रदेश में हिन्दी में ही कार्य हो, तो दक्षिण भारतीय हिन्दी सीख कर ही उत्तर प्रदेश में आएंगे। अब वह इसलिए चिन्ता नहीं करता कि उस का काम अंग्रेजी से चल जाता है। और एक बात सोचने की यह है कि भाषा की सर्वांग उन्नति केवल साहित्य की रचना से नहीं होती, जीवन को स्पर्श करने वाले अन्य साहित्यांगों की मौलिक सृष्टि ही किसी भाषा को पूर्ण बनाती है। सामाजिक विज्ञान, भूगोल, विज्ञान, इतिहास तथा अन्य शास्त्रों की मौलिक सृष्टि ही हिन्दी को रूसी, अंग्रेजी और फ्रांसीसी भाषाओं के समकक्ष कर सकती है। हिन्दी वालों को हल्ला मचाना छोड़ कर चिन्तन की इन हजारों विधाओं के प्रति सोचना चाहिए।

प्रश्न—“क्या मद्रास में द्रविड़ मुनेत्र कषगम की विजय से हिन्दी के प्रचार में बहुत अवरोध आने की सम्भावना है? क्या यह सम्भव नहीं कि अपनी घोषित नीति के कारण कषगम मद्रास में हिन्दी-प्रचार के कार्य को रोक दें?”

प्रश्न सुन कर चन्द्रहासन जी की मुख-मुद्रा और भी गम्भीर हो गई और वे कुछ सोचते हुए बोले — “राजनीतिक परिवर्तन से उत्पन्न दक्षिण भारत की नई परिस्थितियों में और विशेष रूप से द्रविड़ मुनेत्र कषगम के आने से हिन्दी के समर्थकों को हिन्दी-प्रचार में

शायद कड़े संघर्ष का सामना करना पड़ेगा, किन्तु इस में घबराने की आवश्यकता नहीं, अपितु स्थिति की नजाकत समझ कर और भी अधिक धैर्य से कार्य करने की जरूरत है।

“मेरा विचार है कि कषगम वाले भी शेष भारत की भावना को समझ कर हिन्दी-विरोधी नीति का त्याग करने पर विवश होंगे और ऐसा भी मैं मानता हूँ कि वे अंदर ही अंदर हिन्दी सीख रहे हैं। लेकिन अब वहां पर हिन्दी प्रचार के साधनों में सांस्कृतिक साधन अधिक होने चाहिए जिस से राजनीति के चक्र से दूर संस्कृति के स्तर पर मेल-मिलाप हो क्यों कि भाषा का अध्ययन मनुष्य के सांस्कृतिक विकास के अन्तर्गत आता है, इस लिए भाषा के प्रचार व प्रसार के कार्यक्रम में सांस्कृतिक योजनाओं का महत्व है।”

11. राष्ट्रीय एकता का प्रतीक — हिन्दी

— दयाराम बेरी —

(बंगाल विधानसभा में दिए गए एक भाषण का सारांश)

आज भारत में एकता की जितनी आवश्यकता है, उतनी किसी भी चीज की नहीं। यदि हमें देश की रक्षा करनी है, देश को गौरवशाली बनाना है, तो यह आवश्यक है कि साम्प्रदायिकता, प्रान्तीयता दूर करें और एक भारत की कल्पना करें। भारत की जो 14 भाषाएँ हैं, ये सभी हमारी भाषाएँ हैं। हमने इन सभी को राष्ट्रभाषा माना है। ये भाषाएँ एक-एक प्रान्त की भाषाएँ हैं। हिन्दी को राष्ट्रभाषा क्यों माना गया है, इसका भी एक कारण है। जिस तरह विधान सभा में बहुत से विधायक चुनकर आते हैं, परन्तु मुख्य मंत्री एक ही होता है, विधान सभा का अध्यक्ष भी एक ही होता है, उसी तरह भारत की समस्त भाषाओं में मुख्य हिन्दी है और उसे हम लोगों ने राष्ट्रभाषा माना है।

भारत की सभी भाषाएँ हमारी पूज्य हैं। किसी भी भाषा के प्रति हमारा कोई द्वेष नहीं है। हमारे प्रधान मंत्री ने लोकसभा में यह निर्णय लिया है कि हिन्दी ही राष्ट्रभाषा पद पर आसीन है, साथ-ही-साथ यह भी कहा गया है कि जब तक अहिन्दी भाषा-भाषी हिन्दी अच्छी तरह समझ न लें, तब उन पर हिन्दी जबरदस्ती न लादी जाय।

यह प्रश्न नया नहीं है। यह अच्छी तरह पहले ही कहा गया है कि जो लोग हिन्दी की अच्छी योग्यता न रखते हों, वे अंग्रेजी में उत्तर दे सकते हैं। ऐसी स्थिति में हिंसा क्यों हो रही है, समझ में नहीं आता। लोग कहते हैं कि हिन्दी बोलनेवाले और समझनेवाले ज्यादा हैं, महज इस बात पर झगड़ा किया जाय और झगड़े की बातें हों, यह उचित नहीं है। आज जिस हिन्दी का निर्माण हुआ है उसमें बंगाली, पंजाबी, मद्रासी, गुजराती आदि सभी प्रदेश के लोगों का योग है। बिहार में कैथी अक्षर चलता था, बंगाल में श्रीभूदेव मुखोपाध्याय ने देवनागरी अक्षर स्कूलों में शुरू किया था। श्री अनुकूल चक्रवर्ती ने जीवन भर हिन्दी की सेवा की। हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के लिए राजा राममोहन राय ने बहुत महत्वपूर्ण कार्य किये। पहले जहाँ अंग्रेजी का अधिवेशन होता था, वहाँ राष्ट्रभाषा सम्मेलन भी हुआ करता था। 1917 ई० में एनीबेसेन्ट की अध्यक्षता में कांग्रेस का जो अधिवेशन हुआ, उसमें राष्ट्रभाषा सम्मेलन का अयोजन भी किया गया। उसमें लोकमान्य तिलक भी आये थे, उन्होंने भी स्वीकार किया था कि भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी होगी। ऐसी स्थिति में अंग्रेजी से किसी भी राज्य का मोह होना आश्चर्य की बात है। अंग्रेजी किसी भी राज्य की भाषा नहीं है और हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा है। हिन्दी की लिपि देवनागरी जो कि लिखने में बहुत ही आसान है, इसके लिए गुस्सा, शत्रुता की भावना रखना उचित नहीं है। जिस तरह बंगला भाषा बंगाल में पूजनीय है, उसी तरह हिन्दी भी बंगाल में पूजनीय है। साथ ही प्रत्येक भारतीय के लिए भारत की प्रत्येक भाषा पूजनीय है। ऐसी स्थिति में हिन्दी से द्वेष न किया जाय तो उत्तम हो। हिन्दी हमारे देश की राष्ट्रभाषा है किन्तु हिन्दी न जाननेवाले जब

तक अच्छी तरह हिन्दी में लिख व समझ न लें तब तक वे अंग्रेजी में अपना काम चला सकते हैं। देश में अनेकानेक राजनीतिक पार्टियाँ हैं और उनका यह काम नहीं होना चाहिए कि वे ऐसे मसलों पर लड़ाई का काम करवायें। इस तरह के काम आग से खेलने के बराबर हैं और देश की सेवा करने के बजाय देश का अहित करते हैं।

हिन्दी साम्राज्यवाद का नारा सुनते-सुनते लोगों के कान पक गये हैं। जो लोग ऐसा कहते हैं, वे गुस्से में ही ऐसी बातें कह जाया करते हैं। बनारस में 1905 ई० में बंगभाषा सम्मेलन की जो नींव पड़ी थी, हिन्दी के लेखकों ने इस सम्मेलन का बड़ा स्वागत किया था। साथ ही स्वयं कविगुरु रवीन्द्रनाथ टैगोर को हिन्दी से बड़ा प्रेम था। सुन्दरदास ग्रन्थावलि की भूमिका लिखकर कविगुरु ने कहा था कि गीतांजलि के बाद जब मैंने सुन्दरदास ग्रन्थावली पढ़ी तो मुझे बोध हुआ कि गीतांजलि और सुन्दरदास ग्रन्थावली में बहुत-सी चीजों में साम्य है। अतः बँगला बोलनेवालों, तमिल बोलनेवालों, मराठी बोलनेवालों, गुजराती बोलनेवालों और अन्य सभी भाषा के बोलनेवालों में मेल होना चाहिए। मेल से हमारा देश समृद्ध होगा।

12. हिन्दी का सर्वदेशिक स्वभाव

— डॉ. रामधारीसिंह 'दिनकर' —

(राष्ट्रकवि, सुविचारक, सुलेखक, शिक्षाशास्त्री और सरकारी हिन्दी समिति के सदस्य)

जहां आज दिल्ली और मेरठ हैं, कन्नौज, पूर्वी राजस्थान और ब्रजभूमि हैं, वहां पहले क्रमानुसार कुरु, पांचाल, मत्स्य और शूरसेन नामक जनपद थे। जो भाषा इन चार जनपदों में फैलती है, बाकी भारत में भी उसी भाषा का प्रसार हो जाता है। यहीं की आदि प्राकृत पहले वैदिक और तब लौकिक संस्कृत बनी। फिर यहीं पालि भाषा का जन्म हुआ। फिर उसी भाषा से शौरसेनी और फिर अवहट्ट भाषाएं जन्मीं। बिहार में पैदा होने वाले कवि विद्यापति जनता की भाषा को अवहट्ट मानते थे—

प्राकृत बयना सब जन मिट्ठा, तैं तैंसन जलपौं अवहट्ठा।

महाराष्ट्री प्राकृत का प्रयोग पद्य में और शौरसेनी का गद्य में साथ-साथ मिलता है। गरज यह कि इसी जनपद की कोई न कोई भाषा बराबर राष्ट्र की एकता की भाषा रही है।

चूंकि उत्तर और दक्षिण की राजनीति पीछे चल कर एक नहीं रही, इसलिए संस्कृत के बाद समग्र भारत की राजनीति की कोई एक भाषा नहीं बन पाई। किन्तु यत्किंचित सांस्कृतिक एकता की भाषा तब भी वही भाषा रही, जिस का प्रचलन कुरु, पांचाल, मत्स्य और शूरसेन में था।

चौदहवीं शताब्दी में विद्यापति ने अपनी पदावली में जिस भाषा का प्रयोग किया वह उत्तर में सर्वत्र समझी जाती थी और उसी भाषा के अनुकरण से बृजबुलि (ब्रजबोली) का जन्म हुआ, जिस के कवि बंगाल, असम, और उड़ीसा में उत्पन्न हुए। बल्कि कहना चाहिए कि ब्रजबुलि का जन्म ब्रजभाषा और मैथिली के मिश्रण से हुआ था। अतएव, ब्रजबुलि को लेकर एक समय शूरसेन से लेकर असम तक की भक्ति-कविता की भाषा प्रायः एक थी।

मराठी और हिन्दी का संगम

आम धारणा यह है कि दक्षिण में हिन्दी का प्रवेश मुसलमानों के जरिए हुआ। किन्तु यह बात भूलने की नहीं है कि अशोक और गुप्त राजाओं की राज्यसीमा दक्षिण में बहुत दूर तक फैली हुई थी। ईसा की सातवीं सदी में दक्षिण में कुछ दूर तक हर्षवर्द्धन का भी राज्य था। बहमनी राजाओं के राज्य में हिसाब-किताब हिन्दी में रखा जाता था। मुसलमान तथा हिन्दू राजे स्थानीय भाषाओं के साथ-साथ हिन्दी को भी प्रोत्साहित करते थे। शाहजी और शिवाजी के समय महाराष्ट्र में हिन्दी-कवियों का बड़ा मान था, जिस से यह निष्कर्ष मजे में

निकाला जा सकता है कि महाराष्ट्र की जनता हिन्दी की कविताएं समझ लेती थी। कहते हैं, स्वयं शिवाजी महाराज भी कभी-कभी हिन्दी में पद रचना करते थे।

महाराष्ट्र में मराठी के साथ-साथ हिन्दी की भी कविता चलती थी। महानुभाव-पंथ के प्रवर्तक चक्रधर महाराज तेरहवीं सदी में हुए हैं। वे जन्म से गुजराती थे, किन्तु कविताएं गुजराती, मराठी और हिन्दी, तीनों भाषाओं में लिखते थे अथवा किसी ऐसी भाषा में लिखते थे, जिस में तीनों भाषाओं का रंग था।

जब रामनुजाचार्य, वल्लभाचार्य, निम्बार्क और मध्व के संदेश विंध्य से उत्तर पहुंचे, तब तो भक्ति-आंदोलन ही दक्षिण से उठ कर उत्तर को पहुंच गया। उस समय देश के विभिन्न भागों से जो संत और कवि उत्तर पहुंचते थे, वे उत्तर की ही भाषा में पद-रचना करने लगते थे। राम और कृष्ण भक्तिमार्ग के उपास्य देव थे, और चूंकि उन की जन्मभूमि हिन्दी-प्रान्त में पड़ती थी, इस लिए ब्रज की भाषा ही तत्कालीन सार्वदेशिक साधु-समाज की भाषा बन गई। महाराष्ट्र के संतों में ऐसे संत अनेक हुए हैं, जिन्होंने मराठी के साथ-साथ हिन्दी में भी पद लिखे हैं। ऐसे संतों में हम चक्रधर, ज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथ, समर्थ रामदास, सिद्धेश्वर महाराज, देवनाथ महाराज, विष्णुदास आदि असंख्य कवियों का उल्लेख कर सकते हैं।

महाराष्ट्र की हिन्दी-सेवा अद्भुत है। राष्ट्रीय एकता के हित में महाराष्ट्रियों ने हिन्दी की जो सेवा की है, वह अन्य सभी प्रान्तों के लिए अनुकरणीय है। स्वर्गीय पं. माधवराव सप्रे, बाबूराव विष्णु पराङकर, लक्ष्मण नारायण गर्दे, गजानन माधव मुक्तिबोध और रामचरित-मानस के टीकाकार विनायक राव जी के नाम हमारे लिए अत्यन्त श्रद्धेय लोगों के नाम हैं। यदि जीवित लेखकों की बात करें तो काका साहब कालेलकर, आचार्य विनोबा भावे, श्री श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, अनन्त गोपाल शेवडे और प्रभाकर माचवे की हिन्दी सेवा किसी भी हिन्दी-भाषी की हिन्दी सेवा से कम नहीं पड़ेगी।

गुजरात का हिन्दी-प्रेम

स्वामी दयानन्द, लल्लूलाल जी, महात्मा गांधी, सरदार वल्लभ भाई पटेल और श्री मोरारजी देसाई ने जिस जोर से हिन्दी का पक्ष समर्थन किया, उस के कारण सारा गुजरात राष्ट्रीयता के क्षेत्र में अग्रणी प्रदेश बन गया है। किन्तु यह कोई नई प्रवृत्ति नहीं है।

अभी पिछली शताब्दी तक गुजरात की पाठशालाओं में जो पाठ्य-पुस्तकें पढ़ाई जाती थीं, उन में गुजराती पद्यों के पाठ नागरी-लिपि में छापे जाते थे। महात्मा गांधी का जन्म जिस घर में हुआ था, उस घर से सम्बन्धित कागज पर गांधी जी के पितामह और कुछ गवाहों के हस्ताक्षर मैंने खुद अपनी आँख से नागरी-लिपि में देखे हैं।

किन्तु, हिन्दी उस से भी बहुत पूर्व से गुजरात में प्रचलित रही हैं। मीरा बाई हिन्दी की पश्चिमी सीमा राजस्थान में जनमी थीं, किन्तु उन के बहुत-से पद गुजराती में भी

चलते हैं। प्रसिद्ध संत कवि श्री नरसी मेहता के पदों में हम यत्र—तत्र ब्रजभाषा का प्रयोग देखते हैं। सोलहवीं सदी के आरम्भ में गुजरात में एक जैन कवि लावण्य—समय नाम के हुए हैं। उन के प्रबन्ध काव्य 'विमल प्रबन्ध' में 'मुस्लिम पुरुष—स्त्रियों के द्वारा कहे गए वाक्यों में खड़ी बोली हिन्दी का स्वरूप पाया जाता है।' अष्टछाप के एक कवि कृष्णदास जन्म से गुजराती थे। सन 1536 के प्रभासपाटण के कवि केशव हृदयराम की 'कृष्णक्रीड़ा काव्य' नामक 40 सर्गों की गुजराती काव्यकृति में राधा के प्रसंग में (14वें सर्ग में) ब्रजभाषा की बहुत—सी पंक्तियां मिलती हैं।

लक्ष्मीदास, नयसुन्दर, ऋषभदास, कनकसोम, साधुकीर्ति, गुणविनय, समयसुन्दर, रत्ननिधान आदि गुजराती के जैन कवियों में अक्सर हमें हिन्दी के पद मिल जाते हैं। दलपति राम और वंशीधर अहमदाबाद के थे, जिन्होंने हिन्दी में 'अलंकार—रत्नाकर' की रचना की। अखा भगत (सन 1600 ई. से सन 1650 ई. के बीच) की 'संत—प्रिया' और 'ब्रह्म लीला' नामक दोनों रचनाएं ब्रजभाषा—मिश्रित खड़ी बोली में हैं। लक्ष्मीवल्लभ जैन के पद और सामल के छप्पय हिन्दी में भी मिलते हैं। केवलराम और उन के पुत्र आदित राम गायकवाड़ के आश्रित थे। दोनों ही कवियों की हिन्दी—कविताएं ओजस्विनी और बेजोड़ हैं। अखा की तरह प्रीतमदास ने भी (समय 18वीं सदी) गुजराती के साथ—साथ हिन्दी में कविताएं लिखी हैं। मध्यकाल में गुजराती में लिखने वाले हिन्दी के कवि इतने अधिक हुए हैं कि छोटे से निबंध में उन सब के नाम भी गिनाए नहीं जा सकते। फिर भी कवि दयाराम का उल्लेख यहां विशेष रूप से करना है, क्योंकि गुजराती और ब्रजभाषा पर उन का समान अधिकार था। उन का देहान्त सन् 1853 ई. में हुआ। यही नहीं, वर्तमान युग में मैं ने चारण सम्राट दुला भाई काग के मुख से हिन्दी की कविताएं सुनी हैं तथा इन्द्र वसावड़ा के सुललित हिन्दी—गद्य—लेख देखे हैं। फोर्ट विलियम में जब कम्पनी सरकार हिन्दी—गद्य का रूप संवारने लगी, तब उस के एक लेखक सदल मिश्र थे जो बिहारी थे, किन्तु दूसरे लेखक पं. लल्लूलाल जी गुजरात के थे।

दक्षिण में हिन्दी

तेलुगू भाषा आर्य—परिवार की नहीं, द्रविड़ खानदान की समझी जाती है। यह भाषा इतनी मधुर है कि एक विदेशी विद्वान ने इसे पूरब की 'इतालवी' कहा था। तेलुगू भाषा का जो क्षेत्र है, उसी क्षेत्र में दक्खिनी हिन्दी का जन्म हुआ था। डाक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी ने लिखा है—“दक्खिनी हिन्दी को उस के कवि लोग 'भाखा' या 'भाका' बोलते थे। हम दक्खिनी साहित्य को उर्दू तथा हिन्दी के खड़ी बोली से सम्बन्धित साहित्य का आदि रूप कह सकते हैं। यह साहित्य—धारा वर्तमान हिन्दी और उर्दू साहित्य का उत्पत्ति—स्थान है। उत्तर भारत से दक्खिन में जा कर यह प्रौढ़ बना। फिर समग्र उत्तर भारत पर, दिल्ली की भाषा के सहारे, इस का प्रभाव फैला।”

जब दक्खिन में उत्तर से गए हुए मुसलमान इस प्राकर की हिन्दी लिख रहे थे, उस समय अरबी और फारसी के शब्द दक्षिण की भाषाओं में भी प्रवेश पा रहे थे। यह संगति

का अनविर्य परिणाम था। भोंसलावंश के महाराज शाह जी (1684–1712) मराठी और तेलुगू के तो कवि थे ही, उन्होंने ने राधा बनसीधर विलास' नाम से कुछ यक्षगान भी लिखे थे, जो कर्णाटक धुन पर गाए जाते थे।

मछिलीपट्टणम में एक नटकिया श्री नादेल्ल पुरुषोत्तम कवि हो गए हैं। सन 1886 ई. के आसपास उन्होंने ने तेलुगु लिपि में हिन्दी के कई नाटक लिखे थे, जिन में से केवल छह नाटक अब उपलब्ध हैं। हां, आठ नाटकों के गीत मात्र बचे हुए हैं। आंध्र-केसरी श्री प्रकाशम पन्तुलु ने अपनी आत्म-कथा में लिखा है कि उन के बचपन के दिनों में महाराष्ट्र की नाटक-कम्पनियां आन्ध्र प्रदेश में घूमती थीं और हिन्दी नाटकों का अभिनय करती थी। “उस गांव में नाटकों पर जान देने वाले एक उंडदल्ली साहब थे। उंडदल्ली साहब उर्दू में नाटक लिखते और हम तेलुगुलिपि में उसे लिख कर पूरे नाटक कंठस्थ कर लेते।” श्री पांडुरंग राव लिखते हैं – “इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 15वीं शती से ले कर 19वीं शती तक आन्ध्र प्रदेश में हिन्दी-हिन्दुस्तानी का थोड़ा बहुत व्यवहार होता ही रहा।”

यह भी ध्यान देने की बात है कि श्री वल्लभाचार्य तेलुगू-भाषी थे, जिन्होंने ने हिन्दी-भाषी प्रान्तों में कृष्ण-भक्ति की लहर दौड़ा दी। और कवि पद्माकर तैलंग ब्राह्मण थे, जो ब्रजभाषा के उतने धुरंधर कवि हुए हैं।

सन 1880 के आसपास श्री कृष्णमूर्ति शिष्टु तथा मंड नरहरि ने रामचरित मानस का अनुवाद तेलुगू में किया।

लिपि तेलुगू , भाषा हिन्दी

स्वर्गीय शिवन्न शास्त्री हिन्दी के बहुत अच्छे लेखक थे और ‘सरस्वती’ में लिखा करते थे। उन्होंने ने हिन्दी-तेलुगू-कोश और वृजभाषा का व्याकरण भी लिखा था। आज के तेलुगू-भाषी हिन्दी-विद्वानों में श्री वेंकटेश्वर शर्मा, पं. हृषीकेश शर्मा, श्री मो. सत्यनारायण आदि के नाम बड़े ही आदर के साथ लिए जाते हैं। इसी प्रकार हिन्दी के कई जीवित लेखक जन्म से तेलुगू-भाषी हैं और अपनी मातृभाषा पर भी उन का पूरा अधिकार है। ऐसे लेखकों में सर्वश्री आरिगपूडि रमेश चौधरी, राममूर्ति ‘रेणु’, पांडुरंग राव, हनुमत शास्त्री अयाचित, आलूरि वैरागि चौधरी, जी. सुन्दर रेड्डी, बालशौरि रेड्डी, कामाक्षी राव, राधाकृष्ण मूर्ति वेमूरि आदि के प्रमुख नाम हैं। श्री राममूर्ति ‘रेणु’ ने ही मुझ से कहा था कि आन्ध्र में अभी कुछ ऐसे प्राचीन ग्रंथ भी मिले हैं, जिन की लिपि तेलुगू किन्तु भाषा हिन्दी है।

मैसूर और हिन्दी

प्रोफेसर नागप्पा ने अपने एक निबंध में लिखा है कि मैसूर राज्य में हैदर और टीपू के जमाने से तथा उस से भी कुछ पूर्व से उर्दू लिपि में लिखित हिन्दी के गद्य और पद्य बराबर उपलब्ध होते आए हैं। ‘सबरस’ और ‘बिहारी की लालचन्दी टीका’ की फटी-चिटी प्रतियां मैसूर में कहीं प्राप्त हुई हैं। “17वीं सदी के एक मुसलमान बादशाह को एक वीर

शैव जंगम कवि ने ब्रजभाषा के दोहों में एकेश्वरवाद का उपदेश दिया था। ये दोहे 'शिवानुभव' नामक कन्नड़-पत्रिका में छपे हैं। हमारे यहां के भागवत (हरिकथाकार) तुलसी, कबीर, नानक और मीरा के पद बराबद गाते रहे हैं। कन्नड़ की 'भक्ति-विजय' में कबीर का भी उल्लेख हुआ है।"

अब तो अनुवादों के द्वारा हिन्दी और कन्नड़ के बीच भी काफी आदान-प्रदान हो रहा है। डा. नगेन्द्र के निबंधों का अनुवाद कन्नड़ में हुआ है। मेरे 'लोकदेव नेहरू' का भी कन्नड़-संस्करण इसी वर्ष प्रकाशित हुआ है। इसी प्रकार कन्नड़ के ग्रंथ 'नागरिक' और 'शान्तला' के अनुवाद हिन्दी में निकल चुके हैं। मद्रास के 'दक्षिण भारत' पत्र में कन्नड़-साहित्य के बहुत-से अनुवाद निकले हैं। और बसवेश्वर के वचनों के तो हिन्दी में छोटे-मोटे कई अनुवाद हैं।

केरल की गोसाईं भाषा

देश के बिखराव के कारण राजनीति की भाषाएं कई थीं, किन्तु, सारे देश में घूमने वाले साधुओं, संन्यासियों और तीर्थयात्रियों के बीच एक प्रकार की सरल हिन्दी का प्रचार भारत में हमेशा से रहा है। केरल में हिन्दुओं के अनेक तीर्थ हैं। इन तीर्थों में साधुओं और यात्रियों के ठहरने के लिए 'गोसाईं मठ' नामक धर्मशालाएं हुआ करती थीं और इन मठों में बराबर ऐसे दुभाषिए रखे जाते थे, जिन्हें अपनी भाषा के सिवा हिन्दी का भी कामचलाऊ ज्ञान होता था। उन दुभाषियों की हिन्दी को लोग 'गोसाईं भाषा' या हिन्दुस्तानी' कहा करते थे। श्री एन. वेंकटेश्वरन ने लिखा है — "उन सज्जनों में से कुछ के पास हिन्दुस्तानी भाषा सीखने के लिए उन दिनों मलयालम में लिखी हुई कुछ पुस्तकें भी मिलती हैं। उन हस्तलिखित पुस्तकों से यह प्रमाणित होता है कि केरल में बहुत प्राचीन काल से हिन्दी का अध्ययन हो रहा था।"

त्रावणकोर के राजवंश में भी सन 1813 ई. में हिन्दी के एक कवि जन्मे थे, जिन का शुभ नाम स्वाति नक्षत्रज राज वर्मा था। वे 'गर्भ श्रीमान' के उपनाम से हिन्दी के पद लिखते थे। उन के कोई चालीस पद उपलब्ध हैं, जो मंदिरों में गाए जाते थे। उन्होंने ने हिन्दी के भी गीत और पद मलयालम लिपि में ही लिखे थे। अब तक भी उन का प्रकाशन नागर अक्षरों में नहीं हुआ है। इसी प्रकार मलयालम के एक दूसरे कवि कुंचन नम्बियार की कविता में भी प्रसंगानुकूल सधुक्कड़ी हिन्दी (गोसाईं भाषा) का प्रयोग मिलता है।

केरल में हिन्दी का चलन कई कारणों से रहा है। एक तो तीर्थों के कारण, दूसरे इस कारण भी कि केरल में उत्तर भारत के राजपूत, मराठे और पंजाबी सिपाही भी काम करते थे। अतएव, हिन्दी का थोड़ा-बहुत प्रचार उन के कारण भी हो जाता था।

केरल के सभी बन्दरगाहों पर मारवाड़ी गुजराती, पारसी और उत्तर के मुसलमान बहुत पूर्व से रहते आए थे। अतएव, वहां के व्यापार-केन्द्रों में हिन्दी आप से आप फैल

जाती थी। शायद यही कारण है कि तुलसीदास के रामचरित मानस और नाभादास के भक्तमाल के अनुवाद मलयालम में बहुत पहले ही तैयार हो गए।

केरल में आजकल हस्तलिखित पत्रिकाएं हिन्दी की भी निकलती हैं। वैसे छप कर प्रकाशित होने वाला 'युग-प्रभात' भी अपने ढंग का अकेला पत्र है।

तमिल और हिन्दी

हिन्दुओं के कई पवित्र तीर्थस्थान तमिलनाडु में पड़ते हैं, जैसे रामेश्वरम्, श्रीरंग, कांची, मदुरा और कन्याकुमारी। इसी प्रकार तमिल देश के लोग तीर्थ-यात्रा पर उत्तर भारत भी आते ही रहे हैं। दोनों ओर के इस समागम में किसी प्रकार की टूटी-फूटी हिन्दी ही काम देती रही है। उत्तर से दूर होने के कारण तमिल लोग हिन्दी और उर्दू का भेद लख नहीं पाते थे और सच पूछिए तो बोली जाने पर हिन्दी और उर्दू एक ही भाषा लगती भी है। किन्तु, उर्दू के भ्रम में वे हिन्दी को भी राजभाषा मानते थे। तमिलनाडु के धनी परिवारों में हिन्दुस्तानी पढ़ना सभ्यता का लक्षण माना जाता था।

अत्यन्त प्राचीन काल में तमिल के बहुत से शब्द संस्कृत में घुस कर उस भाषा के अपने शब्द हो गए थे। रेवरेण्ड किटल ने अपने कन्नड़-इंगलिश कोश में ऐसे चार सौ शब्दों की सूची दी है। इधर आ कर हिन्दी के अनेक शब्द तमिल में समा गए।

श्री क.प. शिवराम शर्मा ने लिखा है कि उर्दू और हिन्दी के बहुत-से शब्द तमिल में पच-खप गए हैं। मेज और कुर्सी तमिल में मेजे और कुर्ची बन गई है। 'खाली' शब्द तमिल में 'काली' बन गया और उस का प्रयोग इस कदर ज्यादा हो गया कि उस का समानार्थी तमिल शब्द अब बहुत कम प्रयुक्त होता है।

श्री शिव शर्मा ने यह भी लिखा है कि तमिल प्रदेश में हरिकथा को 'कालपेक्षम्' कहते हैं। "ऐसे कालपेक्षमों में कबीरदास, तुलसीदास, मीराबाई आदि की कथाओं का भी प्रवचन होता आया है। यह क्रम कोई दो सौ वर्षा से चला आ रहा है।"

जैसे आज हिन्दी की फिल्में तमिलनाडु में हिन्दी का प्रचार करती हैं, उसी प्रकार पहले पारसी नाटक कम्पनियों के द्वारा वहां की जनता हिन्दी से अभ्यस्त होती थी।

तमिलनाडु में हिन्दी-प्रचार का अब बहुत बड़ा केन्द्र है। किन्तु, दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा की स्थापना के पूर्व भी हिन्दी के समर्थक तमिलनाडु में थे। मदुरा के श्री बी. कृष्णस्वामी एय्यर हिन्दी के भक्त थे और सन 1910 ई. में काशी आ कर उन्होंने ने यह घोषणा की थी कि हिन्दी ही भारत की राष्ट्रभाषा हो सकती है। मदुरा नगर में ठाकुर खां चन्द्र वर्मा नामक सज्जन 1915-16 में ही हिन्दी-वर्ग चलाते थे।

इधर तो तमिल और हिन्दी में आदान-प्रदान काफी हुआ है। प्रसाद जी की 'कामायनी' और 'आंसू' दोनों काव्यों के पद्यानुवाद तमिल में निकले हैं। मेरे 'कुरुक्षेत्र'

काव्य का तमिल पद्यानुवाद एक पत्रिका में वर्षों से निकल रहा है। प्रेमचन्द के 'सेवासदन' का अनुवाद तमिल में है और उस पर एक फिल्म भी तमिल में बनी है। इसी प्रकार सुब्रह्मण्य भारती की कविताओं के कई अनुवाद हिन्दी में निकले हैं। महाकवि कम्ब की रामायण का पूरा गद्यानुवाद बिहार की राष्ट्रभाषा परिषद् ने प्रकाशित किया है। तमिल के वैष्णव कवि आलवारों की कृतियों के भी अनुवाद हिन्दी में आ रहे हैं। डा. मलिक मोहम्मद नाम के एक मुस्लिम युवक ने 'आलवार भक्तों का तमिल प्रबंध और हिन्दी का कृष्ण काव्य' विषय पर एक काफी मोटा और विद्वत्पूर्ण शोधप्रबन्ध हिन्दी में प्रकाशित किया है। तमिल प्रान्त में हिन्दी के कवि भी उत्पन्न होने लगे हैं। श्री सुमतीन्द्रन बड़े ही होनहार कवि हैं।

उड़ीसा और हिन्दी

जैसा कि लेख के आरम्भ में ही कहा जा चुका है, ब्रजबुलि के कवि पूर्वी भारत में सर्वत्र उत्पन्न हुए थे। उड़ीसा के भक्त कवि राय रामानन्द संस्कृत, ओड़िया और ब्रजभाषा में भी पद रचते थे। ब्रजभाषा में जगन्नाथदास और वंशीवल्लभ कवि की भी कविताएं मिलती हैं। डाक्टर हरेकृष्ण मेहताब के मतानुसार ओड़िया के कुछ और भी श्रेष्ठ कवि हुए हैं, जिन्होंने ब्रजभाषा में कविताएं लिखीं। इन कवियों में से रुद्रराय, अनंग भीम, मधुपुर नरेंद्र, वानपुर हरिचन्दन आदि के नाम परम रूप से उल्लेखनीय हैं।

बंगाल में हिन्दी

विद्यापति के समय से ब्रजभाषा का प्रभाव बंगला पर पड़ने लगा। भारत चन्द्र रायगुणाकर ने, जो बंगला के महाकवि हैं, कुछ कविताएं हिन्दी में भी लिखी थीं, ऐसा डाक्टर सुनीति कुमार चाटुर्ज्या ने बताया है। उन्नीसवीं सदी में बंगाल में जो नव जागरण प्रारम्भ हुआ, उस का प्रभाव महापुरुषों की भाषा-नीति पर भी पड़ा। सुनीति बाबू ने लिखा है कि "इस युग में जितने भी बंगाली विद्वान, पंडित व्यक्ति राष्ट्रीयता-बोध के कारण हिन्दी या हिन्दुस्तानी भाषा के प्रति आकृष्ट हुए, प्रायः वे सभी संस्कृतनिष्ठ नागरी-लिपि में लिखित खड़ी बोली हिन्दी के पक्षपाती थे। उन में बिहार के भूदेव मुखोपाध्याय, उत्तर प्रदेश के वेणीमाधव भट्टाचार्य, शारदा प्रसाद सान्याल, प्यारी मोहन वन्द्योपाध्याय, रामकली चौधुरी और नील कमल मित्र तथा पंजाब के नवीन चंद्र राय का नामोल्लेख किया जा सकता है।... उक्त बाबू भूदेव मुखोपाध्याय के कारण ही बिहार में हिन्दी का प्रचार हुआ।" सन् 1878 ई. में श्री कृष्णानन्द सेन ने मुंगेर से 'धर्म-प्रचारक' नामक हिन्दी साप्ताहिक पत्र प्रकाशित किया था। स्वदेशी आंदोलन के समय बंगाल के नेता और पत्रकार काली प्रसन्न काव्य-विशारद ने एक हिन्दी-गीत की रचना की थी। जिसे बंगाल के युवक सड़कों पर गाते फिरते थे।

बंगाल ने हमें हिन्दी के कई लेखक भी दिए हैं, जिनमें नलिनी मोहन सान्याल, उषारानी मित्रा, मन्मथनाथ गुप्त आदि मुख्य हैं। जब कलकत्ता के विश्वविद्यालय ने पहले पहल हिन्दी में एम.ए. की परीक्षा चलाई, किसी भी छात्र को उस साल हिन्दी की ओर बढ़ते

न देखकर नलिनी मोहन सान्याल से न रहा गया और उस साल वे खुद एम.ए. की परीक्षा में बैठ गए।

ब्रजबुलि में रचे हुए पदों का प्रसारण मणिपुर और त्रिपुरा तक हुआ था। इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि मणिपुर के राज-काज में हिन्दी का व्यवहार किया जाता था और सिक्कों पर नाम नागरी में ढाले जाते थे।

35 करोड़ भारतीय हिन्दी भाषा बोलते हैं

हिन्दी के साथ एक अन्याय बराबर होता आया है और वह यह है कि लोग आँख मूंद कर कहते आए हैं कि हिन्दी केवल हिन्दी-भाषी राज्यों की भाषा है। उसमें से भी उन लोगों की संख्या निकाल दी जाती है जो हिन्दी-भाषी राज्यों में रहते हुए भी अपनी मादरी जबान उर्दू या पंजाबी बताते हैं। क्या एक भी उर्दू-भाषी या पंजाबी-भाषी ऐसा है, जो साधारण हिन्दी नहीं समझता हो? बहुत से उर्दू या पंजाबी-भाषी लोग अहिन्दी प्रांतों में भी रहते हैं और वे भी हिन्दी बखूबी समझते और बोल लेते हैं। सारा पारसी समाज हिन्दी समझता है और उत्तर भारत में जितने भी ईसाई हैं, वे हिन्दी समझते भी हैं और बोलते भी हैं। गुजरात और महाराष्ट्र की अधिकांश जनता हिन्दी समझती है। उड़ीसा में जब मैं अंग्रेजी में बोलने लगा तब श्रोताओं ने हिन्दी में बोलने की मांग की। कलकत्ते का बंगाली समाज हिन्दी समझ लेता है। असम में भी चाय बागानों में हिन्दी समझी जाती है। इस विशाल जन-समुदाय के साथ अहिन्दी-भाषी प्रदेशों में उन लोगों को जोड़ दीजिए जिन्होंने हिन्दी-प्रचारिणी संस्थाओं में से हिन्दी या हिन्दुस्तानी की कोई परीक्षा पास की है। फिर यह कल्पना आसान हो जाएगी कि सारे भारत वर्ष में हिन्दी समझने वालों की संख्या 50 करोड़ का 70 प्रतिशत यानी 35 करोड़ से कम नहीं है। यह आंकड़ा लोगों को स्फीत मालूम हो सकता है, मगर यह स्फीत नहीं है, उसका प्रमाण मेरे पास है।

भारत सरकार जो डाक्यूमेन्ट्री फिल्में बनाती है वे बारह भाषाओं में बनाई जाती हैं। मगर सरकारी दफ्तरों ने हिसाब लगाकर देखा है कि जनता को दिखाई जाने वाली 65 प्रतिशत फिल्में हिन्दी की होती हैं। कारण यह है कि देश में उद्योगों के केन्द्र बढ़ते जा रहे हैं और जहां-जहां ऐसे केन्द्र बनते हैं, वहां-वहां अनेक भाषाएं बोलने वाले लोग एकत्र हो जाते हैं और उनके बीच की अंतःप्रांतीय भाषा आप से आप हिन्दी हो जाती है और नाटकों, फिल्मों, सभा-सम्मेलनों और उत्सव समारोहों में हिन्दी के प्रयोग से ही उन्हें सबसे अधिक सुविधा होती है।

13. लोकभाषा और लोकराज

— डॉ. राम विलास शर्मा —

(हिन्दी के खरे आलोचक और अपने वामपन्थी विचारों के लिए प्रसिद्ध)

भाषा के प्रश्न पर कम से पिछले पचास सालों से बहस चल रही है। न भाषा की समस्या बदली है, न उसके विभिन्न तत्व। उन्हीं तत्वों को लेकर आधी सदी तक बहस करने के बाद भी हम वहीं के वहीं हैं। आखिर क्यों?

यूँ शायद यह बात मनुष्य के इतिहास में हमेशा ही सच रही है कि तर्क और विवेक अपने आप में काफी नहीं होते। कोई तर्क कितना भी संगत क्यों न हो, वह नक्कारखाने में तूती की आवाज बनकर ही रह जाता है, अगर उसके पीछे कोई बल न हो। लेकिन अपने यहां तो लगता है बल ही सब कुछ है, तर्क तो केवल बल को औचित्य प्रदान करने का आवरण मात्र होता है।

भाषा की समस्या का वास्तव में रूप क्या है?

समस्या का एक पहलू तो बहुत पुराना है, प्राचीन रूपकों में जिसके कारण राजपुरुष और ब्राह्मण तो संस्कृत बोलते हैं, स्त्रियाँ और शुद्र प्राकृत। उसी परम्परा में यह तथ्य है कि फारसी हिन्दुस्तान में कभी किसी की मातृभाषा नहीं थी, लेकिन दिल्ली दरबार की राजभाषा सदियों तक फारसी रही।

इसी परम्परा की अगली कड़ी थी अंग्रेजी की प्रतिष्ठा, जहां से भाषा की समस्या अपने वर्तमान रूप में आयी। अंग्रेजी की शिक्षा अनिवार्य बनी, उच्चशिक्षा का माध्यम अंग्रेजी बनी, और राजकाज की भाषा भी। भारत में पुरानी सांस्कृतिक-अर्थिक-राजनीतिक एकता से भिन्न और असम्बद्ध ही नहीं, उसके सर्वथा विरुद्ध एक नयी प्रशासकीय एकता स्थापित हुई—विरुद्ध इसलिए कि प्रशासन साम्राज्यवादी था।

भारत में अंग्रेजी शिक्षा की सर्वप्रथम मांग करने वालों में प्रमुख थे राजा राममोहन राय। यहीं से वह भ्रम शुरू होता है, जिसके फलस्वरूप न केवल भाषा, बल्कि और भी बहुतेरे मामलों में अभी तक सफाई नहीं हो पायी है। राजा राममोहन राय की हिन्दुस्तान की सामान्य जनता में कोई दिलचस्पी नहीं थी। उनकी लोकतन्त्र में कोई दिलचस्पी नहीं थी। इसके विपरीत वे अंग्रेजों की गुलामी का स्वागत करने वालों में अग्रणी थे—ईस्ट इण्डिया कम्पनी के काल में ही। पश्चिम में उस समय लोकतन्त्र का विकास हो रहा था। लेकिन इंग्लिस्तान उस समय तक सामन्तशाही का ही गढ़ था, इंग्लिस्तान की संसदीय-प्रणाली भी सामन्तों-व्यापारियों तक ही सीमित थी। राजा राममोहन राय फ्रान्सीसी या अमरीकी क्रान्तियों के प्रशंसक नहीं थे, इंग्लिस्तान की अर्द्ध-सामन्ती-विकाशशील

पूँजीवादी व्यवस्था के प्रशंसक थे। उनके सामाजिक—सुधार सम्बन्धी जिन विचारों के कारण उन्हें भारत के तथा कथित 'आधुनिक पुनर्जागरण' का जनक कहा जाता है, उनका लक्ष्य भी भारत का सामन्ती वर्ग ही था। इस सन्दर्भ में यह तथ्य भी महत्वपूर्ण है कि उनका सारा लेखन फारसी और अंग्रेजी में है। आज से सवा सौ, डेढ़ सौ साल पहले अंग्रेजी में लेखन किसके लिए हो सकता था?

आधुनिकता का चक्कर

राजा राममोहन राय भारत में आधुनिकता के जनक मान लिये गये, यानी आधुनिकता को एक प्रकार के उदार, किसी हद तक तार्किक और प्रबुद्ध सामन्तवाद का पर्यायवाची मान लिया गया। यानी आधुनिक वही था, जो अंग्रेजों का प्रशंसक और अंग्रेजी राजका समर्थक था। बीसवीं सदी के पहले दो दशकों में यह भ्रम टूटने लगा था, लेकिन तभी उसे एक सर्वथा अप्रत्याशित स्रोत से बल प्राप्त हुआ। लेनिन ने एक बार कहा था कि लन्दन का रास्ता पीकिंग और कलकत्ता हो कर जाता है। यह बात तो अपनी जगह है, लेकिन समाजवाद और साम्यवाद के लिए इतना जरूर सच रहा है कि कलकत्ता का रास्ता लन्दन होकर जाता है। किसी के लिए लन्दन का नाम गालाचर या रजनी पाम दत्त था, किसी के लिए लास्की, या मैकडोनल्ड या वेल्स।

राजा राममोहन राय की सामन्ती अन्तरराष्ट्रीयता, रवीन्द्रनाथ ठाकुर और जवाहरलाल नेहरू की उदारवादी अन्तरराष्ट्रीयता, और डांगे—गोपालन से लेकर हेम बरुआ तक मार्क्सवादी—समाजवादी अन्तरराष्ट्रीयता में एक सामान्य गुण था—आधुनिकता का माध्यम थी अंग्रेजी भाषा। भारतीय साम्यवादी दल भी अपने आदेश सीधे मस्कोवा (मास्को) से नहीं, इंग्लिस्तान के साम्यवादी दल से प्राप्त करता था।

इसके फलस्वरूप, भारत के स्वतन्त्र होने के बाद यह आश्चर्यजनक स्थिति हमारे सामने आयी कि सारे के सारे तथा कथित आधुनिक दृष्टिवाले लोग, वे भी जिनकी जिन्दगी अंग्रेजों की चाकरी और चापलूसी में गुजरी थी, और वे भी जो एक नये, लोकतान्त्रिक, समाजवादी भारत के निर्माण करने के लिए प्रयत्न करने का दावा करते थे, एक बात पर सहमत थे — अंग्रेजी का प्रभुत्व बना रहना चाहिए। आज भी, चाहे राजाजी हों या मीनू मसानी, मुदालियर हों या दाण्डेकर या पटेल, हीरेन मुखर्जी हों या कृष्ण मेनन या नम्बुदिरीपाद या हेम बरुआ, सभी भाषा के मामले में पहली शर्त यही लगाते हैं—अंग्रेजी हटाने की बात मत करो, भले ही इनमें से कुछ लोग भारतीय भाषाओं की कसमें खाते रहें।

इसके विपरीत एक परम्परा रही है — गान्धीजी, सुभाष बोस, सुब्रह्मण्यम भारती, और वल्लतोल से होती हुई, जो लोहिया, सत्येन बोस, वीरेन्द्र भट्टाचार्य, शिवज्ञान ग्रामणी, और मगनलाल देसाई जैसे लोगों तक आती है। इसी परम्परा में प्रेमचन्द भी हैं। यह परम्परा उन लोगों की है, जिनके मन में आकांक्षा रही है समूचे देश के, देश के सभी लोगों के नवीकरण की, भारत के लोगों की स्वतःस्फूर्त क्रान्तिकी।

बहुत संक्षेप में, इनकी दृष्टि रही है कि अंग्रेजी जानी चाहिए, राजकाज की भाषा के रूप में शिक्षा के माध्यम और अनिवार्य विषय रूप में, तत्काल, इसी वक्त जानी चाहिए, क्योंकि लोकराज चल सकता है तो लोकभाषा से, ज्ञान और हुनर आ सकते हैं तो लोकभाषा से ही, और अंग्रेजी इंग्लिस्तान-अमरीका में भले ही लोकभाषा हो, भारत में सामन्ती भाषा है। हिन्दी-हिन्दुस्तानी राष्ट्रभाषा बनने के उपयुक्त है, क्योंकि देश की बहुसंख्या इसे बोलती-समझती है, देश के मामूली लोगों ने स्वयं अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सम्पर्क भाषा के रूप में इसका विकास किया है, सदियों से करते रहे हैं। लेकिन असली सवाल अंग्रेजी की जगह हिन्दी लाने का नहीं है, लोकभाषा की प्रतिष्ठा का है। केन्द्रीय सरकार के दफ्तरों की भाषा का सवाल इसका एक छोटा-सा हिस्सा है।

तीन हौवे

पिछले पचास वर्षों से ये दोनों प्रवृत्तियाँ टकरा रही हैं। राज्य, अर्थ-व्यवस्था, समाज, तीनों ही संस्थापित शक्तियाँ शुरू से पहली प्रवृत्ति के पीछे रही हैं-अंग्रेजी को कायम रखो। समाज और प्रशासन का सामन्ती ढांचा अंग्रेजी के ही सहारे खड़ा है। लेकिन कोई तर्क नहीं है अंग्रेजी के पक्ष में। दुनिया के ज्ञान-विज्ञान को ग्रहण करने की बात हो, तो अंग्रेजी ही क्यों? रूसी, जर्मन और जापानी आदि भी क्यों नहीं? इसके विपरीत कोई तर्क नहीं है। पचास साल पहले भी नहीं था। इसलिए अंग्रेजी के समर्थन में हौवे खड़े किये गये। एक हौवा खड़ा किया गया साम्प्रदायिकता के सहारे उर्दू का। अंग्रेजी को हटाने की मांग करने वाले उर्दू को, और इस तरह मुसलमानों की सांस्कृतिक परम्परा को खत्म करना चाहते हैं। दिलचस्प बात यह है कि सर सैयद अहमद से मुहम्मदअली जिन्ना तक आने के बाद जब पाकिस्तान बन गया, तो भारत में इस प्रवृत्ति की विरासत संभाली साम्यवादी दल के साहित्यिक-सांस्कृतिक प्रवक्ता सज्जाद जहीर ने!

दूसरा हौवा खड़ा किया गया कि अगर सारे देश की एक भाषा नहीं होगी, अगर उर्दू को कोई जगह मिली, या अन्य भारतीय भाषाओं को प्रतिष्ठा दी गयी, तो देश की सांस्कृतिक राजनीतिक एकता नष्ट हो जायेगी। इसके साथ जोड़ दी गयी एकात्म शासन की मांग - प्रदेश खत्म हों, एक ही शासकीय इकाई हो, केन्द्र। एक ही भाषा हो, हिन्दी। हिन्दी चूंकि नहीं हो सकती, इसलिए जब तक नहीं हो सकती, तब तक अंग्रेजी चलती रहे।

तीसरा हौवा खड़ा किया गया-देश के सांस्कृतिक-साहित्यिक नेता हैं बंगाल और मद्रास। (वहीं तो अंग्रेज सबसे पहले आये थे!) हिन्दी तो बिल्कुल बेकार, अविकसित, गंवारी भाषा है। उसे राष्ट्रभाषा कैसे स्वीकार किया जा सकता है। सभ्य, सुसंस्कृत लोगों की भाषा है अंग्रेजी, विज्ञान की भाषा है अंग्रेजी, अन्तरराष्ट्रीय भाषा है अंग्रेजी, इसलिए अंग्रेजी ही रहे। या फिर, किसी भाषा के साथ अन्याय न हो, इसलिए सभी भाषाएं केन्द्र की राजभाषाएं हो। लेकिन इसमें समय लगेगा, बहुत समय लगेगा। इसलिए फिलहाल अंग्रेजी चलती रहे।

पचास साल पहले ही भाषा का सवाल इन चार रूपों में सामने आ गया था—दरअसल तो आमना सामना दो ही प्रवृत्तियों में था, लेकिन अंग्रेजी ने अपने समर्थन में तीन शिखण्डी खड़े कर लिय थे। मूल टकराव था, अंग्रेजी बनाम लोकभाषाएं; नकली झगड़े थे, अंग्रेजी बनाम हिन्दी; हिन्दी बनाम अन्य भारतीय भाषाएं; हिन्दी बनाम उर्दू। पचास बरस बाद भी वही सवाल खड़े हैं। वही बहसें हैं, जो किसी नतीजे पर नहीं पहुँचतीं। और बुनियादी नतीजा एक ही है — अंग्रेजी अपनी जगह कायम है। यही सामन्ती प्रवृत्ति संसद के वर्तमान सत्र में एक ऐसा विधेयक लाई है, जिसके अन्तर्गत अंग्रेजी को उसकी मौजूदा जगह से हटाना वर्तमान संवैधानिक व्यवस्था में लगभग असम्भव हो जायेगा।

लोकतन्त्र में फैसले बहुमत से होते हैं। बड़े, या गम्भीर संवैधानिक महत्व के फैसलों के लिए कभी-कभी विशेष बहुमत (आमतौर पर दो-तिहाई) की व्यवस्था की जाती है। लोकतन्त्र में कभी किसी प्रश्न पर एकमत की मांग नहीं की जाती, क्योंकि खुले स्वन्त्र समाज में किसी भी प्रश्न पर एकमत शायद ही कभी होता है, किसी गम्भीर राष्ट्रीय संकट के समय। लेकिन अब यह व्यवस्था करने का प्रस्ताव है कि अंग्रेजी आज जहां इस्तेमाल हो रही है, वहां से उसको हटाने के लिए, सभी प्रदेशों की सहमति अनिवार्य होगी — किसी एक जगह से हटाने के लिए भी। यानी अगर कहीं भी अंग्रेजी की जगह किसी भारतीय भाषा को लाने का सुझाव हो, तो कुछ लाख की आबादीवाला नागालैण्ड अपनी असहमति से उसको रद्द कर सकता है, और सारे देश को उसके पीछे चलना पड़ेगा।

दिल्ली में एक नाटक

दिल्ली में पिछले दिनों एक और भी नाटक हुआ, जो अगर इतना दुष्टतापूर्ण न होता, तो मैं उसे प्रहसन कहता। शिक्षा के सम्बन्ध में कई समितियों की बैठकें हुईं, सम्मेलन हुए। पहले कहा गया कि विश्वविद्यालयों में शिक्षा का माध्यम प्रादेशिक भाषाएं हों। न हिन्दी अनिवार्य रहे, न अंग्रेजी। लोकभाषाओं के कुछ समर्थक काफी खुश भी हुए। लेकिन देखते-देखते सारे तर्क उलट गये। हिन्दी अनिवार्य होनी चाहिए, इसलिए अंग्रेजी अनिवार्य रहे। शिक्षा के माध्यम को बदलने में जल्दबाजी नहीं करनी चाहिए। देश की एकता के हित में एक ही भाषा रहनी चाहिए, और वर्तमान परिस्थितियों में वह अंग्रेजी ही हो सकती है।

विधेयक के सन्दर्भ में इस सारी बहस को देखिए, तो स्पष्ट हो जायेगा, कि सारी बहस महज लोगों को भुलावे में डालने वाला नाटक है, क्योंकि उक्त विधेयक के स्वीकृत हो जाने के बाद फिर अंग्रेजी को किसी भी जगह से रत्ती भर भी हिलाना असम्भव हो जायेगा।

पचास साल बाद भी हम वहीं के वहीं हैं, और अब कोशिश यह है कि आगे पचास साल बाद भी वही हालत रहे, और उसके पचास साल बाद भी!

यह बात अब बिल्कुल साफ है कि भाषा का मामला शुद्ध रूप में राजनीति का मामला है — सामन्ती भाषा और सामन्ती राजनीति बनाम लोकभाषा और लोक-राजनीति का। आज अगर सामन्ती भाषा की सामयिक विजय होती दिखायी दे रही है तो इसलिए कि लोकराजनीति दुर्बल है। सामन्ती राजनीति अपनी शक्ति कायम रखने और बढ़ाने के लिए लोकभाषाओं को दबाने में जरा भी शर्म नहीं करती, भले ही इससे लोकतन्त्र और राष्ट्रीय एकता दोनों ही खतरे में पड़ जायें।

यह खतरा बिल्कुल वास्तविक है। लोकतन्त्र में राजनीति और प्रशासन अलग-अलग भाषाओं में कितने दिन चल सकते हैं? अंग्रेजी राज में भी प्रशासकीय एकता की भाषा अंग्रेजी थी, लेकिन राष्ट्र की राजनीतिक एकता लोकभाषाओं के माध्यम से उपलब्ध हुई थी। आज भी राजनीति की भाषा लोकभाषा ही है। अंग्रेजी के कट्टर से कट्टर समर्थक को भी हिम्मत नहीं कि अपने इलाके की आम सभाओं में अंग्रेजी में बोले। लेकिन यही नेता जब शासक बनते हैं, तो उनकी भाषा बदल जाती है। इसका आखिरकार यही परिणाम हो सकता है कि या तो लोकतन्त्र खत्म हो जाये, या देश की एकता या शायद दोनों ही।

जो लोग प्रशासकीय एकता को ही सब कुछ मानते-समझते हैं, वे अगर याद कर लें तो अच्छा है कि पाकिस्तान बनने के दस साल पहले ही बर्मा और श्रीलंका भारत से अलग किये गये थे, और एक पत्ता भी नहीं खड़का था, क्योंकि ये इलाके भारतीय प्रशासन के अंग जरूर थे, भारत की राजनीति के नहीं। इसके विपरीत जहां पाकिस्तान बना, वे इलाके सांस्कृतिक राजनीतिक दृष्टि से भी भारत के अंग थे, इसलिए उन्हें काटकर अलग करने में भयंकर रक्तपात हुआ।

देश की लोकतान्त्रिक एकता को अगर कायम रखना है, तो यह अंग्रेजी से नहीं हो सकता, यह हो सकता है लोकभाषाओं के बीच एक नये सम्बन्ध से।

लेकिन फिर यह सवाल उठता है — आगे क्या? दुर्भाग्यवश, जो लोग इस देश में लोकराजनीति चलाना चाहते हैं, या कम-से-कम ऐसा कहते हैं, वे भी अक्सर इस बात को नहीं समझते कि लोक-राजनीति का भाग्य, अन्य बातों के साथ-साथ लोकभाषा से भी जुड़ा है। विपक्षी दलों की शायद इस बात को समझने वाले कांग्रेस दल में ही अधिक निकले — विशेषतः उन लोगों में जो गांधी जी के साथ कभी काम कर चुके हैं। विपक्ष में एकमात्र संयुक्त समाजवादी दल के सदस्य ही संसद में निरपवाद लोकभाषाओं का ही प्रयोग करते हैं। जनसंघ के नेता भी अंग्रेजी झाड़ते हैं। जो अपने को मार्क्सवादी कहते हैं, उनकी बात तो मैं समझ ही नहीं पाता। सर्वहारा की राजनीति सामन्ती भाषा का समर्थन किस तार्किक बाजीगरी से करती है, यह रहस्य मेरी समझ के परे है।

असलियत यह है कि कानून जितना संसद में बनता है, उससे ज्यादा बाहर बनता है। यह बात अभी भारतीय राजनीति में पैठी नहीं है। अगर देश का जनमत किसी सवाल के पक्ष में फैसला कर दे, तो वह लोकसभा में भी देर-सबेर परिलक्षित होगा, और उसी के

मुताबिक कानून बनेगा। लोकसभा में अगर आज लोकभाषाओं को दबाने का साहस किया जा रहा है, तो इसीलिए कि लोक-राजनीति दुर्बल है। अन्ततोगत्वा तो अन्य बुनियादी सवालों की तरह भाषा के सवाल का फैसला भी सड़कों पर, कारखानों में, खेत-खलिहानों में और स्कूल-कॉलेजों में ही होने वाला है।

लोक-राजनीति के पक्षधर जितनी जल्दी यह समझ लें कि लोकराज लोकभाषा में ही चल सकता है, और लोकभाषा के समर्थक जितनी जल्दी समझ लें कि लोकभाषा की प्रतिष्ठा लोक-राजनीति के माध्यम से ही हो सकती है, उतना ही कम नुकसान होगा, और तब शायद सचमुच भारत में आधुनिक पुनर्जागण का युग शुरू हो।

14. प्रश्न माध्यम का नहीं, अंग्रेजी हटाने का है

— डॉ. राम मनोहर लोहिया —

भाषा समस्या के उलझाव के साथ-साथ आज जो यह प्रश्न सामने आया है कि हमारी उच्च नौकरियों की परीक्षाओं का माध्यम क्या हो, इसका क्या कोई तात्पर्य है? यह प्रश्न भी हमें परेशान करता है कि स्कूल कालेज में कौन सी भाषा माध्यम हो। अंग्रेजी तीसरे दर्जे से पढ़ाई जाय या नहीं? मेरी दृष्टि में तो प्रश्न चाहे उच्च नौकरियों का हो या स्कूलों में पढ़ाने का, दोनों ही प्रश्न गौण हैं। असल चीज यह है कि अंग्रेजी का हिन्दुस्तान में क्या स्थान है और क्या होना चाहिये? रेल, तार, डाक, अदालत और सरकार, कालेज, विश्वविद्यालय में वह माध्यम नहीं होनी चाहिये। आज जो स्थिति है, विचित्र है। मैं तो समझता हूँ कि संसार में कोई भी ऐसा अभागा देश नहीं है, नया या पुराना, सभ्य या जंगली, जहाँ पर कोई भाषा जिसे जनता न समझती हो वह सार्वजनिक कामों की भाषा बनी हुई हो। सही बात यह है कि कुछ सरकारी नौकरों के लिए हम उसे सार्वजनिक कामों की भाषा नहीं बना सकते।

विदेशी भाषा

न केवल इसलिए कि अंग्रेजी विदेशी है, यह तो उसका दोष है ही, उससे ज्यादा बड़ा दोष है कि वह सामान्ती भाषा है। एक सामन्ती भाषा को सार्वजनिक कामों का माध्यम बनाने का असल में एक ही तात्पर्य होता है, तात्पर्य छोड़ दीजिये, हम क्यों किसी के दिमाग में घुसने की कोशिश करें, परिणाम एक ही होता है और वह यह कि 50 करोड़ में से कोई 40-50 लाख आदमी हैं जिनको एक औजार मिल जाता है बाकी 49 करोड़ के ऊपर शासन और शोषण करने का। इसके अलावा वह कुछ और नहीं है।

ऐच्छिक माध्यम

हम चाहते हैं तो ऐच्छिक माध्यम के रूप में हम इसे अवश्य रख सकते हैं, पर सिर्फ अंग्रेजी को नहीं, रूसी को भी, जर्मन को भी। दुनिया भर की आबादी 3 अरब है। इसमें से 30 करोड़ को निकाल दें, जहाँ पर अंग्रेजी मातृभाषा है या मातृभाषा जैसी बन गयी है। फिर हमारे देश जैसे देश भी निकाल दें, जो अर्ध गुलाम हैं। बाकी संसार भर में अंग्रेजी यदि कहीं बाध्य विषय है, जहाँ तक मुझे मालूम है तो केवल स्केन्डिनेविया में है। स्केन्डिनेविया कुल मिलाकर डेढ़ दो करोड़ का हिस्सा पड़ता है। बाकी दुनिया भर में अंग्रेजी बाध्य विषय कहीं भी नहीं है, केवल ऐच्छिक विषय की तरह हिन्दुस्तान में भी चाहे तो उसे रखा जा सकता है। मैं इसे कोई राजनीतिक राय नहीं बना रहा हूँ। अंग्रेजी ने जिस तरह हिन्दुस्तान को एक सौ पचास बरससे बरबाद कर दिया है, उसके दिमाग को विकृत कर दिया है और करती जा रही है, उसके हिसाब से अगर देश को बचाना है तो 10-20 वर्षतक इसको ऐच्छिक विषय के रूप में भी नहीं रखना चाहिये। तभी इसकी गुलामी

से छुटकारा पा सकेंगे। खैर, इसे छोड़िये। उसे और सबके साथ-साथ यानी रूसी, फ्रांसीसी, स्पेनी वगैरह के साथ-साथ एक ऐच्छिक विषय रखा जा सकता है।

विश्व भाषा का तर्क

विश्वभाषा आदि के जो तर्क दे दिये जाते हैं, वे भी बिकूल गलत तर्क है। विश्वभाषा तो कोई है ही नहीं, न कभी हुई, न आज है और न कभी हो सकती है। आज की कोई एक भाषा विश्वभाषा बने, यह असम्भव बात है। संयुक्त राष्ट्रसंघ में पांच भाषाओं स्पेनी, फ्रांसीसी, रूसी, चीनी और अंग्रेजी को विश्वभाषाएं माना गया है। इसके अलावा विश्व के इतिहास को आप देखें तो किसी एक भाषा का जमाना आता था, जैसे अब थोड़े समय के लिए अंग्रेजी का जमाना रहा है। कोई 80-90 वर्ष पहले अंग्रेजी का इतना भी नहीं था, तब फ्रांसीसी का था। आज जो जमाना है अंग्रेजी वाला, पिछले 70-80 वर्ष का, वह ढल रहा है, क्योंकि अब रूसी आ रही है। सम्भवतः रूसी अंग्रेजी के समकक्ष शीघ्र आ ही जायेगी। उसी तरह से विश्व इतिहास में कभी अरबी का जमाना रहा, कभी संस्कृत का रहा, कभी पालीका रहा, कभी स्पेनी का रहा, अलग-अलग भाषाओं का रहा है। विश्वभाषा वाले सब तर्क फिजूल चलाये जाते हैं।

मुझे तो बिलकुल साफ मालूम पड़ता है कि यह विशुद्ध राजनीति का प्रश्न आ उपस्थित हुआ है कि अंग्रेजी को कैसे हिन्दुस्तान से हटाया जाय? इसके लिए शिक्षाशास्त्रियों को, जिनको देश से, जनता से जरा भी प्रेम है, मैदान में सबसे आगे आना चाहिये और सोचना चाहिये कि कैसे इस बोझ की हटायें? अंग्रेजी के रहते लड़का या लड़की विषय ज्ञान हासिल कर ही नहीं सकते। वे तो खाली लफ्फाजी में फंस जाया करते हैं। अगर इतना जोर, इतना दबाव एक सामन्ती और परदेशी भाषा के ऊपर डाल दिया जाता है तो फिर बच्चों को विषय ज्ञान कहां से हो पायेगा?

उचित क्या है?

वैसे मेरी अपनी राय है कि विश्वविद्यालयों में बी.ए. तक तो प्रान्त की भाषा माध्यम होनी चाहिये और बी.ए. के बादसे हिन्दुस्तानी माध्यम होनी चाहिये। जैसे छोटी अदालतों में तो इलाके की भाषा हो और उच्च न्यायालय में हिन्दुस्तानी होनी चाहिये। लेकिन क्योंकि आज इस राय को माननेवाले देश में बहुत कम लोग मिलेंगे, अगर मिल जायें तो भी इस राय के बारे में भ्रम फैलाना बहुत आसान है, इसलिए अब यह बात कहनी मैंने बन्द कर दी है। अब मैं कहता हूं कि अगर वे कहते हैं कि हम और आगे तक ले जाना चाहते हैं तो ठीक है, आगे ले जाइये। होगा क्या? थोड़ी देर के लिए मान लीजिये कि दिल्ली का जो केन्द्र है, वह बहुभाषी केन्द्र बन जाता है यानी हिन्दुस्तानी के साथ-साथ और कई भाषाएं जुड़ जाती है। उसमें अपना कोई हर्ज नहीं। बहुत सम्भव है कि 5-10 वर्ष के बाद ये लोग कहेंगे कि अब बस, ठीक है, हम अपना बहुत कर चुके, अब यही एक हिन्दुस्तानी रखिये। थोड़ी देर के लिए मान लो कि वे ऐसा न भी कहें और कुछ दिनों तक वे उसको और

चलाना चाहते हैं तो होड़ के साथ अस्तित्व में इतना भरोसा रहना चाहिये कि हिन्दुस्तान में कोई न कोई एक भाषा हिन्दुस्तान की भाषा हो करके ही रहेगी। इसके बारे में भ्रम निकाल देना चाहिये कि हिन्दुस्तान की भाषा कोई एक भाषा हो सकेगी या नहीं। उस पर तो एक इतना जबरदस्त गहरा विश्वास बना लेना चाहिये कि उसकी कोई चिन्ता करने की जरूरत है ही नहीं और इसलिये यदि कोई चाहे जहां तेलुगु को, मराठी को और तमिल को और बंगला को, लाना चाहे तो जरूर लाये, आखिर से आखिर तक उन्हें ले जाये लेकिन इस अंग्रेजी को हटाये।

गांधीजी ने क्या किया?

मैं समझता हूं अब तो हमारी स्थिति करीब-करीब वैसी ही हो गयी है जैसी कि अंग्रेजी राज के सम्बन्ध में हो गयी थी। अंग्रेजी राज को रखने के लिए या मिटाने के लिए यही तर्क मिला करता था। कोई समझौता तो हो नहीं पा रहा था। हिन्दु मुस्लिम एक नहीं हो रहे हैं, मुसलिम लीग और कांग्रेस एक नहीं हो रही हैं, बंगाल पंजाब का मसला है, इस प्रकार पचासों मसले खड़े हो गये थे। हिन्दुस्तान की एक आदत है, कम से कम हजार डेढ़ हजार बरस की कि जबतक सिर के ऊपर डण्डा नहीं पड़ता है तब तक किसी मसले को हल नहीं किया करते हैं। यह तो एक असम्भव आदत हो गयी है अपने देश की। मसला तो कोई हल होता ही नहीं, बिगड़ता चला जाता है। तब फिर, आखिर में, गांधी जी को यही कहना पड़ा कि अब हमारा जो कुछ भी हो, आप जाओ। फिर उसके बाद जो भी रास्ता निकलना था, निकला। यही हमें अंग्रेजी के लिए करना होगा।

15. शिक्षा का माध्यम: मातृभाषाएं

— अमरनाथ विद्यालंकार —

(पंजाब के भूतपूर्व शिक्षामंत्री, प्रसिद्ध श्रमिक नेता और लोकसेवक मण्डल के आजीवन सदस्य)

सन् 1916 की बात है—जब लखनऊ में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। स्वर्गीय स्वामी श्रद्धानन्दजी (उस समय महात्मा मुंशीराम) एक परिचित मित्र के यहां ठहरे थे। एक दिन स्वर्गीय श्रीनिवास शास्त्री, डाक्टर हृदयनाथ कुंजरू तथा स्वर्गीय सी. वाई. चिन्तामणि भी वहीं पधारे। अकस्मात् महात्मा मुंशीरामजी से, जो गुरुकुल कांगड़ी के आचार्य थे, उच्च शिक्षा के माध्यम का प्रश्न छिड़ गया। महात्मा मुंशीरामजी ने कहा, आप लोग तर्क-वितर्क छोड़कर गुरुकुल पधारिए और स्वयं विद्यार्थियों की शिक्षा की परीक्षा कीजिए। एक वर्ष पश्चात् श्री श्रीनिवास शास्त्री और श्री कुंजरू गुरुकुल पधारे। विद्यार्थियों को अर्थशास्त्र का कोई विषय दिया गया और उन्होंने हिन्दी में परस्पर विवाद किया। श्री श्रीनिवास शास्त्री उस दिन से यह मान गये कि अर्थशास्त्र की उच्च शिक्षा शुद्ध हिन्दी में दी जा सकती है। उसके पश्चात् वे विज्ञान, वनस्पति शास्त्र तथा अन्य श्रेणियों में भी गये और देखकर चकित हुए कि सब विषयों की उच्च शिक्षा हिन्दी के माध्यम से दी जा सकती है। गुरुकुल में प्रारम्भ ही से सभी शिक्षा हिन्दी माध्यम से दी जाती रही है। गुरुकुल से निकले स्नातकों ने सभी विषयों पर उच्च कोटि की पाठ्य पुस्तकें तथा अन्य ग्रन्थ हिन्दी में लिखे हैं, और मैं अपने अनुभव से कह सकता हूं कि हिन्दी के माध्यम से शिक्षा प्राप्त करने के कारण हम लोगों की शिक्षा अथवा ज्ञान का मानदण्ड कम रहा हो, ऐसी बात नहीं। जब पाठ्य पुस्तकों का अभाव था, तो हम लोग अंग्रेजी की पाठ्यपुस्तकें ही उपयोग में लाते थे, परन्तु क्लास में पढ़ाई का तथा परीक्षाओं का काम हिन्दी में ही चलता था।

स्वर्गीय प्रोफेसर बृजनारायण अर्थशास्त्र के कुछ चुने हुए विद्वानों में गिने जाते थे। यह 1934 की लाहौर की बात है। लोक सेवक मण्डल प्रतिवर्ष चुने हुए विद्वानों की एक व्याख्यानमाला का आयोजन किया करता था। स्वर्गीय श्रद्धेय पुरुषोत्तमदास जी टण्डनका यह आग्रह रहा करता था कि व्याख्यानमाला में सभी व्याख्यान यथासम्भव हिन्दी-हिन्दुस्तानी में हों। प्रोफेसर बृजनारायण जी 1931 की जनगणना के कतिपय निष्कर्षों पर भाषण देने वाले थे। टण्डनजी ने उनसे हिन्दी-हिन्दुस्तानी में भाषण देने का आग्रह किया — प्रोफेसर बृजनारायण ने कहा, उनके लिए ऐसे गहन विषय को हिन्दी या उर्दू में समझा सकना एक असम्भव बात है। यूं प्रोफेसर बृजनारायण उर्दू के अच्छे विद्वान लेखक थे। अन्त में टण्डनजी से इस बात पर समझौता हुआ कि वे अपना भाषण तो हिन्दी या उर्दू में आरम्भ करें, परन्तु यदि कहीं उन्हें ऐसा प्रतीत हो कि ऐसा करने में कठिनाई हो रही है, तो वे अंग्रेजी में बोलना शुरू कर दें। प्रोफेसर बृजनारायण ने भाषण आरम्भ किया—वे विषय का विस्तार करते हुए आग बढ़ते चले गये—उनके भाषण में प्रवाह आ गया और वे पूरा एक घण्टा बोले। इस सारे भाषण में उन्होंने अंग्रेजी के केवल दो शब्दों को

उपयोग किया—उनका सारा भाषण शुद्ध हिन्दी—हिन्दुस्तानी या उर्दू में था। भाषण की समाप्ति पर टण्डनजी ने प्रोफेसर बृजनारायण को बधाई दी। फिर तो उनमें इतना आत्मविश्वास उत्पन्न हो गया कि वे हम लोगों के साथ गांवों में कैम्प और किसान स्कूल लगाने के लिए जाने लगे। वहां ग्रामीण अनपढ़ व्यक्तियों को वे अर्थशास्त्र के गूढ़ और गहन विषय शुद्ध हिन्दी—हिन्दुस्तानी में सफलता से समझा लेते। हम लोग उन्हीं सब विषयों को पंजाबी भाषा में समझाते। प्रोफेसर बृजनारायण भारतीय भाषाओं के माध्यम से उच्च शिक्षा देने के कट्टर समर्थक बन गये थे।

‘काश कि हम ऐसा यहां भी कर सकते!’

मुझे एक ट्रेड युनियन के प्रतिनिधि मण्डल के साथ 1954 में चीन जाने का अवसर मिला। पेकिंग युनिवर्सिटी के वाइस चान्सलर के साथ हम लोग दुभाषिये के माध्यम से वार्तालाप कर रहे थे। अचानक बीच में वाइस चान्सलर महोदयने दुभाषिये को टोककर अंग्रेजी का एक ठीक शब्द बतलाकर अनुवाद की भूल दुरुस्त की। इससे हमें ज्ञात हुआ कि वाइस चान्सलर महोदय अंग्रेजी के अच्छे विद्वान हैं, जिसे उन्होंने स्वीकार किया—हमने उनसे निवेदन किया, क्यों न हम दुभाषिये को हटाकर सीधे अंग्रेजी में ही वार्तालाप करें? उनका उत्तर था, कि नहीं, हमारी यही रीत है कि हम विदेशियों से अपनी चीनी भाषा में ही वार्तालाप करें, भले ही इसमें समय की असुविधा हो।

उनसे विश्वविद्यालयों में शिक्षा के माध्यम की चर्चा छिड़ गयी। उन्होंने बतलाया कि साम्यवादी क्रान्ति से पहले चीन में उच्च शिक्षा विदेशी माध्यम से दी जाती थी। सभी को मालूम है कि चीन के समुद्र तटपर विविधि यूरोपीय देशों ने अपनी—अपनी बस्तियां बसाई थीं। उन बस्तियों में जिस देश का प्रभाव तथा अधिकार था, उसी की भाषा भी चलती थी — फ्रेंच, पोर्चुगीज, अंग्रेजी, जर्मन, डच इत्यादि भाषाओं का इन बस्तियों और इनके शिक्षणालयों में प्राधान्य था, और इसी के अनुसार चीनी विद्वान भी इनमें से किसी एक या दो भाषाओं के माध्यम से अध्ययन—अध्यापन का कार्य करते थे। क्रान्ति के तुरन्त बाद यह हुक्म हुआ कि शिक्षा का माध्यम बदल दिया जाये, तथा सब पठन—पाठन चीनी भाषा में हो। एक सर्वदेशीय आयोग बिठाया गया, जो पारिभाषिक शब्दों का चीनी भाषा में अनुवाद करे, जिससे चीनी की पाठ्यपुस्तकें तैयार की जा सकें।

हमें वाइस चान्सलर महोदय ने बताया कि सभी विश्वविद्यालयों ने इस आदेश का घोर विरोध किया। शिक्षा शास्त्रियों ने कहा, इससे शिक्षा के मानदण्ड नीचे गिर जायेंगे — चीन आधुनिक विद्या, विज्ञान में पिछड़ जायेगा — संसार से वह कटकर रह जायेगा। फिर तुरन्त किस प्रकार चीनी विद्वान चीनी भाषा में अध्यापन कार्य में कौशल प्राप्त कर सकते हैं, उन्हें इसके लिए समय चाहिए। परन्तु चीन की क्रान्तिकारी सरकार ने एक भी दलील न सुनी और अपने आदेशों में परिवर्तन करने से साफ इन्कार कर दिया। वाइस चान्सलर महोदयने हमें बतलाया, प्रारम्भ में अध्यापकों को पहाड़—सी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। वे लोग अपने क्लास—लेक्चर पहले अपनी जानी हुई विदेशी भाषा में लिखते, फिर

उनका चीनी में अनुवाद करके उसे क्लास में पढ़ देते, अनुवाद करने में अक्सर उन्हें दूसरों की सहायता लेनी पड़ती—भूलें भी होतीं, समय का अपव्यय भी होता। परन्तु विद्यार्थियों की दिलचस्पी बढ़ गयी—कई बार विषय का भली भांति चीनी भाषा में विवेचन न कर सकने के कारण विद्यार्थियों के बीच अध्यापकों का उपहास भी होता। परन्तु थोड़े ही समय में उनका अभ्यास बढ़ गया। धीरे-धीरे उन्हें विश्वास होता गया कि वे अपनी मातृभाषा में विषय का ज्यादा अच्छा प्रतिपादन कर सकते हैं। मुश्किल से कुछ ही महीनों में वे पहले से भी अधिक भरोसे के साथ विद्यार्थियों के समक्ष कठिन—से—कठिन विषय को प्रस्तुत करने योग्य हो गये। विद्यार्थियों का ज्ञान और विषय की पकड़ पहले से अच्छी हो गयी, और चीनी विश्वविद्यालयों में मातृभाषा सम्पूर्ण शिक्षा का माध्यम बन गयी। हमें उस समय बतलाया गया कि परिभाषाओं का अनुवाद करने वाले आयोग ने लगभग 75 प्रतिशत वैज्ञानिक परिभाषाओं की चीनी समानार्थक परिभाषाएं खोज ली हैं, और बाकी कार्य भी एकाध वर्ष में—अवधि से बहुत पहले समाप्त होने वाला है।

हम सभी ने अपने आपसे प्रश्न किया—क्या भारत में भी ऐसा सम्भव नहीं? सम्भवतः यदि विधान लागू करने के तुरन्त बाद हम समझदारी के साथ शिक्षा का माध्यम बदलने का प्रयत्न करते, यदि हम उसी समय एक ही साथ यह घोषणा करते कि सब कार्य प्रदेशों की क्षेत्रीय भाषाओं में होंगे, और राष्ट्रीय कार्य हिन्दी में — अर्थात् हिन्दी के साथ—ही—साथ क्षेत्रीय भाषाओं को भी आश्वासन मिलता, तो हिन्दी का विरोध न होता, सभी हिन्दी को सार्वदेशिक कार्यों के लिए अपना लेते। परन्तु विधान में 15 वर्ष की अवधि नियत करके हमने समझ लिया कि 15 साल के लिए मुसीबत टली, बाद में देखा जायेगा। 1954 तक चीन के इंजीनियरिंग कॉलेज में द्वितीय वर्ष तक की पढ़ाई चीनी भाषा की पाठ्य पुस्तकों द्वारा होने लग गयी थी—नयी पाठ्य पुस्तकें धड़ाधड़ तैयार होकर बाजार में आ रही थीं। 'आवश्यकता ही आविष्कार की जननी है।'

चीन से लौटकर हमने यह सब वृत्तान्त जब स्वर्गीय प्रधानमंत्री जवाहरलाल जी से बतलाया, तो उन्होंने गहरी सांस लेते हुए कहा—“काश कि हम ऐसा यहां भी कर सकते।”

प्रायः यह दलील दी जाती है कि अहिन्दीभाषी प्रदेशों के लोग चाहते हैं कि अंग्रेजी को अभी न हटाया जाये। स्वर्गीय जवाहरलाल जी ने अहिन्दी भाषी लोगों को यह आश्वासन दिया था कि वे जब तक न चाहेंगे अंग्रेजी नहीं हटायी जायेगी, परन्तु प्रश्न यह है कि अहिन्दीभाषी अल्पसंख्यक लोग चाहते क्या हैं? वे मांगते क्या हैं, और हम देते क्या हैं?

1964 की बात है। मुझे एक सरकारी आयोग के अध्यक्ष के रूप में सारे देश का भ्रमण करने का अवसर प्राप्त हुआ। हम यह मालूम कर रहे थे कि सूचना तथा प्रसारण मन्त्रालय विविध प्रचार माध्यमों के द्वारा जनता के शिक्षण—प्रशिक्षण का जो कार्य करता है, उसका सामान्य जनों पर वास्तव में कितना प्रभाव पड़ा है। हम लोग मद्रास के तमिल भाषा—भाषी गांवों में गये, जहां हिन्दी के विरोध में प्रायः भाषण होते रहते थे। हम लोग

लोगों से अंग्रेजी के माध्यम से वार्तालाप करते थे, परन्तु ग्राम के लोगों को सब बात दुभाषिये के द्वारा तमिल में समझायी जाती थी।

एक स्थान पर एक बड़े भरे जलसे में मैंने कह दिया— “देखिए, सरकार ने आपकी बात रखते हुए, और आपकी भावनाओं का खयाल करते हुए, इस बात को स्वीकार कर लिया है कि अंग्रेजी का चलन तब तक रहे, जब तक आप ऐसा चाहें।” मेरे भाषण का तमिल में अनुवाद करने वाले ने जब लोगों से ऐसा कहा, तो जलसे में एक साथ पन्द्रह—बीस तमिलभाषी उठ खड़े हुए, और गुस्से में आकर तमिल में कुछ कहने लगे। मैंने दुभाषिये से पूछा, ये क्या कह रहे हैं? उसने बतलाया कि मेरी यह बात इन लोगों को बहुत अखरी है कि मैंने कहा है कि ‘आप अंग्रेजी चाहते हैं, हिन्दी नहीं चाहते, तो अंग्रेजी रखी जा रही है। वे कहते हैं वे कब अंग्रेजी रखने की बात कह रहे हैं, वे अंग्रेजी को नहीं रखना चाहते — वे तमिल चाहते हैं, अंग्रेजी से मुक्ति चाहते हैं। हिन्दी के वे विरोधी नहीं। परन्तु हिन्दी अंग्रेजी का स्थान ले लेगी,’ इसके अर्थ उन्हें यह बतलाये गये हैं कि जैसे अंग्रेजी तमिल का गला दबोचकर उन पर सवार है, अब उसी तरह हिन्दी सवार हो जायेगी। तमिल वहीं—की रह जायेगी। लोकतन्त्र में वे लोकभाषा की इस अवहेलना को सहन नहीं करेंगे। अंग्रेजी से वे नफरत करते हैं — हिन्दी यदि तमिल की गर्दन दबाकर बैठेगी, तो वे हिन्दी से भी नफरत करेंगे। मुझे प्रसन्नता हुई — मैंने उन्हें विस्तार से पूरी स्थिति समझायी। मैंने कहा कि भारतीय भाषाओं को प्रोत्साहन देने से ही हिन्दी आगे बढ़ेगी। हिन्दी की कभी यह महत्वकांक्षा नहीं रही कि वह किसी भी भारतीय क्षेत्रीय भाषा की गर्दन पर सवार होकर अपना भाषाई साम्राज्य स्थापित करे।

अंग्रेजी देश में एकता नहीं लाती, देश का विभाजन करती है

पंजाब के शिक्षामन्त्री के रूप में मुझे प्रायः स्कूलों और कॉलेजों में जाना होता था। मैं कभी—कभी विज्ञान की क्लासों में जाकर विद्यार्थियों से कहता कि वे यह जान लें कि मैं अंग्रेजी नहीं जानता, विज्ञान वार्ता को वे अपनी मातृभाषा में मुझे समझायें। वैसे ही जैसे वे अपने गांव के किसी व्यक्ति को बिजली, चुम्बक, अथवा कोई वनस्पतिशास्त्र की बात समझा रहे हों। अंग्रेजी के माध्यम से पढ़ने वाले छात्र अंग्रेजी पाठ्यपुस्तकों के अंग्रेजी फिकरे याद करके उन्हें दोहरा सकते थे—किताब के फिकरे—के—फिकरे उत्तर पत्रों पर लिखकर वे ऊंचे अंक प्राप्त कर सकते थे, परन्तु मुझे कोई ही कहीं ऐसा उदाहरण मिल पाया, जहां विद्यार्थी अपनी मातृ भाषा में भलीभांति एक सामान्य व्यक्ति को अपनी बात समझा सकने की योग्यता रखते हों। अंग्रेजी ने देश के पढ़े—लिखे लोगों के ज्ञान और विचारधारा को सर्वसाधारण तक पहुंचने से रोक दिया है। शिक्षित तथा बहुसंख्यक अशिक्षित वर्ग के बीच अंग्रेजी की इतनी ऊंची दीवार खड़ी हो गयी है, जिसने देश को दो बड़े वर्गों में विभक्त करके देश की एकता के मार्ग में बाधा उपस्थित कर दी है। अंग्रेजी देश में एकता नहीं लाती, देश का विभाजन करती है।

और उन्हीं दिनों भारतीय प्रतिनिधिमण्डल का प्रमुख बनकर मैं अफगानिस्तान गया। वहां के शिक्षणालयों में सम्पूर्ण शिक्षा मातृभाषा—पश्तो और फारसी में होती है। वहां भी मैंने क्लास रूम में जाकर विज्ञान के विद्यार्थियों से प्रश्न पूछे। मैंने देखा, विद्यार्थी कितने उत्साह के साथ अपनी मातृभाषा में विज्ञान की कठिन—से—कठिन पहेलियों को सुलझाकर बतलाते हैं।

अभी हाल ही में मैं बल्गेरिया गया—उच्च शिक्षा का माध्यम भी लोगों की मातृभाषा ही है। पुस्तकों की दुकानों पर बहुत बड़ी संख्या में प्रत्येक विषय पर वहां की भाषा में लिखी पुस्तकें धड़ाधड़ खरीदी जा रही हैं।

सन् 1961 में मैं केन्द्रीय शिक्षा परामर्श समितिके अधिवेशन में भाग ले रहा था। शिक्षा के माध्यम का विषय छिड़ा हुआ था। सभी कह रहे थे कि जब तक हिन्दी में पाठ्य पुस्तकें न हों, हिन्दी माध्यम से पढ़ाई हो ही कैसे सकती है। मैंने गुरुकुलों का उदाहरण दिया, दूसरे विद्यापीठों की मिसाल दी, शान्तिनिकेतन विश्वविद्यालय की बात बतलायी। फिर मैंने पूछा, क्या संसार में एक हिन्दी ही ऐसी 'दुर्बल' भाषा है, जिसमें ज्ञान—विज्ञान की शिक्षा नहीं दी जा सकती। संसार में क्या कोई और देश भी है, जहां शिक्षा के माध्यम के लिए विदेशी भाषा को चुना गया हो। दुनिया के दूसरे सब देशों के लोग ज्ञान और विज्ञान का अध्ययन कैसे करते हैं? क्या सभी को अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन या रूसी भाषा सीखनी पड़ती है। वर्तमान प्रधानमंत्री इन्दिराजी भी उस सभा में थीं। मेरे पास आ बैठीं और मुझे समझाने लगीं— "पाठ्यपुस्तकों के बिना कैसे काम चलेगा।" मैंने खड़े होकर कहा—"आपकी पाठ्यपुस्तकें कभी भी तैयार न होंगी, जब तक आपका माध्यम अंग्रेजी रहेगा। कौन लेखक होगा, और कौन ऐसा मूर्ख प्रकाशक होगा, जो हिन्दी या अन्य भारतीय भाषाओं में ऊंचे दर्जे की ऐसी पुस्तकें छापकर प्रकाशित करेगा, जिनकी विश्वविद्यालयों कहीं मांग नहीं है। पाठ्यपुस्तकें शिक्षणालयों की जरूरत के अनुसार लिखी जाती हैं — यूँ ही प्रकाशित नहीं की जातीं। आप शिक्षा का माध्यम बदल डालिए, एक—दो साल में ही आपके पुस्तक विक्रेताओं की दुकानें भारतीय भाषाओं में लिखी अच्छी—से—अच्छी पाठ्यपुस्तकों से भरी दिखायी देंगी। केवल हमें अंग्रेजी के मोहको त्याग देना होगा, और साहस और दृढ़ निश्चय के साथ निर्णय करना होगा कि बस, अबसे हमारे शिक्षणालयों का कार्य भारतीय भाषाओं में ही चलेगा।"

एक ऐतराज उठाया जा रहा है। भिन्न—भिन्न विश्वविद्यालयों में भिन्न—भिन्न भाषा माध्यम होने से शिक्षित वर्ग का परस्पर सम्बंध टूट जायेगा। ठीक है, शायद ऐसा हो। शायद वही स्थिति उत्पन्न हो जाये, जिसका वर्णन महाकवि माघने दमयन्ती के स्वयंवर के संदर्भ में किया है — स्वयंवर में अनेक राजा भिन्न—भिन्न भाषाभाषी प्रदेशों से एकत्र हुए, वे एक दूसरे की बात समझते नहीं थे — "अन्योन्य भाषा—नवबोध भीतेः"। सो इस परेशानी में सब परस्पर संस्कृत में वार्तालाप करने लग गये। आज परस्पर सम्पर्क की भाषा अंग्रेजी है। — परन्तु वह केवल ऊंचे तबके के शिक्षित वर्ग की सामान्य भाषा है — सर्वसाधारण का

परस्पर सम्पर्क तो अंग्रेजी के बिना ही होता है। जब अंग्रेजी न रहेगी — तो मजबूरन हम लोग परस्पर सम्पर्क का माध्यम तलाश करेंगे—फिर हम यह नहीं कहेंगे कि अमुक भाषा अपना साम्राज्य स्थापित करना चाह रही है। हिन्दी हो या और कोई भी भाषा हो, वह सम्पर्क के लिए एक उपयोग की भाषा होगी, प्रत्येक व्यक्ति को उसकी जरूरत होगी। इसलिए उसका विरोध नहीं होगा। उस सामान्य भाषा को सभी भारतीय भाषाओं से सहयोग मिलेगा, अन्य भाषाओं के शब्दकोश, शैली तथा लालित्य इत्यादि के अंश लेकर सामान्य भाषा अधिक समृद्ध होगी—प्रत्येक भाषाभाषी उसको समृद्ध करने और अधिक व्यवहारोपयोगी बनाने में अपना सहयोग देगा। वही राष्ट्रवाणी के पद पर प्रतिष्ठित हो सकेगी। पर यह तभी होगा—जब अंग्रेजों की भांति अंग्रेजी भी विदा ले लेगी।

16. आत्मवंचना को प्रश्रय

— वाल्मीकि चौधरी —

(संसत्सदस्य, स्व. राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद के निजी सचिव और प्रसिद्ध सामाजिक कार्यकर्ता)

जब मैं भारत के दिवंगत राष्ट्रपति डा. राजेन्द्र बाबू का निजी सचिव था, तब मैंने अपने एक नोट के साथ राष्ट्रपति के द्वारा भारत सरकार के अन्य सचिवालयों का ध्यान इस समस्या की ओर आकृष्ट कराया था कि 15 साल की अवधि में किस प्रकार की कार्यवाही की जाए या क्या सक्रिय कदम उठाया जाय जिससे हिन्दी को अंग्रेजी का स्थान लेने में न कोई कठिनाई हो और न संविधान में दी गई शर्त का उल्लंघन हो, क्योंकि उसकी जवाबदेही सबसे अधिक राष्ट्रपति और उनके सचिवालय की है।

संविधान में भी इस विषय पर स्पष्ट संकेत किया गया है कि राष्ट्रपति समय-समय पर कम से कम हर पांच वर्ष बाद स्थिति की जांच करें। अपनी इस जवाबदेही को ध्यान में रखकर तत्कालीन राष्ट्रपति जी ने अपने उस नोट में ये आदेश आज से तेरह वर्ष पूर्व दिये थे: विभागों की नियमावलियां, रिपोर्ट, प्रचार-पुस्तिकायें, सूचनायें आदि हिन्दी में भी प्रकाशित कराई जाएं।

अधिकारियों को अधिक से अधिक हिन्दी का ज्ञान करने के लिए प्रेरित किया जाये।

कुछ कार्य हिन्दी में भी शुरू कर देना चाहिए। कम से कम हिन्दी पत्रों का उत्तर हिन्दी में दिया जाय और हिन्दी प्रान्तों के साथ लिखापढ़ी हिन्दी में ही की जाए।

नई भर्तियों के लिए हिन्दी की योग्यता अनिवार्य कर दी जाय। विदेश स्थित दूतावासों के साथ हिन्दी में ही पत्र-व्यवहार करें, जिससे उनके अधिकारियों और कर्मचारियों को भी भारत की राष्ट्रभाषा सीखने के लिए प्रोत्साहन मिले।

इस कार्य को चलाने के लिए विभिन्न विभागों में एक हिन्दी यूनिट अविलम्ब खोली जाए।

इस तरह के सुझावों के साथ राष्ट्रपति ने प्रधानमंत्री को एक नोट दिया था, जिसमें कहा गया था कि हम लोगों को अभी से ऐसे कदम उठाने चाहिए जिनसे संविधान में हिन्दी को अंग्रेजी का स्थान लेने के निर्धारित समय के आते-आते मंत्रालय अपना पूरा काम सुदृढ़ता एवं दक्षता से हिन्दी में करने की स्थिति में आ जाए।

उन्होंने इसके लिए यह सुझाव दिया था कि भारत सरकार के प्रत्येक मंत्रालय में हिन्दी विभाग स्थापित किया जाना चाहिए जिसका अधिकारी ऐसे दर्जे का अफसर हो जो पूर्ण अधिकार के साथ सरकार के आदेशों एवं निर्देशों को कार्यान्वित करा सके। वह

अफसर स्वयं हिन्दी में नोट लिखे, मसौदा तैयार करें, केवल अपने मसौदे को ही हिन्दी में लिख लेने लायक न हो बल्कि दूसरे के मसौदे को भी पढ़ने, समझने की क्षमता रखे। ऐसे अफसर के लिए उन्होंने यह भी लिखा था कि उस अफसर का यह भी कर्तव्य हो कि वह केवल इतना ही न करे कि विभाग में हिन्दी के लिए जो मांग हो, उसे पूरा करे बल्कि हिन्दी विभाग उत्तरोत्तर उस दिशा में प्रगति करता जाय, इसका भी वह बराबर ध्यान रखे। उन्होंने यह भी सुझाव दिया था कि हिन्दी के प्रयोग की प्रगति का मूल्यांकन प्रति वर्ष किया जाना चाहिए ताकि सारा मंत्रालय निर्धारित अवधि में लक्ष्य तक पहुंच जाय।

उन्होंने लिखा था कि प्रत्येक विभाग में कुछ पत्र हिन्दी में आते हैं। ऐसे हिन्दी पत्रों का जवाब हिन्दी में जाय और ऐसे पत्रों के नोट (टिप्पणी) भी हिन्दी में ही लिखे जायें। इसके लिए उन्होंने यह भी आदेश दिया था कि इस योग्यता के कर्मचारी न हों तो इसके लिए नयी नियुक्तियां की जायें।

उनका सुझाव था कि अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी के प्रतिष्ठापन का एक क्रमिक कार्यक्रम बना लेना चाहिए जिसमें प्रत्येक वर्ष के लिए एक लक्ष्य निर्धारित हो और प्रगति का लेखा प्रत्येक साल उनके पास पेश होना चाहिए, ताकि वह इस संबंध में संविधान में दिये गये कर्तव्यों का सही-सही पालन कर सकें।

उनका यह भी कहना था कि जिन राज्यों ने हिन्दी का व्यवहार स्वीकार कर लिया है उनके साथ केन्द्र से भी हिन्दी में पत्र-व्यवहार होना चाहिए। कम से कम उनके हिन्दी पत्र का जवाब तो हिन्दी में ही दिया जाना चाहिए और उनको अपने कर्तव्य पालन में प्रोत्साहन मिलना चाहिए।

27 फरवरी, 1954 को तत्कालीन राष्ट्रपति ने एक और नोट प्रधानमंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू को दिया था जिसमें शिक्षा मंत्रालय को सुझाव दिया गया था कि वह इसके अनुसार हिन्दी को अंग्रेजी का स्थान लेने के लिए क्रमिक कार्यक्रम अपना लें।

हमारे प्रथम राष्ट्रपति के उपरोक्त सुझाव को यदि काम में लाया जाता तो इसमें संदेह नहीं कि आज का अनियमित विधेयक लोकसभा में उपस्थित न किया जाता। इस विधेयक को मैंने जानबूझ कर अनियमित इसलिए कहा है कि जो व्यवस्था कानूनी तौर पर समझ-बूझ कर संविधान में दी गई है उसको अमल में न लाना और उसके लिए संसद से कानून पास कराना संविधान के प्रति अन्याय है। संविधान में की गयी किसी व्यवस्था को अमल में लाने में जो सरकार असमर्थ हो जाय, वह सफल सरकार नहीं कहला सकती। केवल संविधान में दी गई शर्त का ही उल्लंघन नहीं हो रहा है, बल्कि अपने एक राष्ट्रपति के आदेश-निर्देश का भी उल्लंघन हो रहा है। जिस राष्ट्र और राज्य में राष्ट्रपति के सुझाव का महत्व न रहे, उस के संचालन की अन्य बातों के सम्बन्ध में जनता किस तरह भरोसा करे।

हिन्दी का स्थान और गिरा

हमारा ख्याल है कि स्वतंत्रता के पूर्व जो स्थान हिन्दी का था, स्वतंत्रता के बाद वह स्थान भी नहीं रहा है। इसमें बहुतों को अतिशयोक्ति मालूम होगी, लेकिन यह बात तो माननी होगी कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार कर लिये जाने के बाद देश के भीतर जितना हिन्दी विरोधी प्रचार हुआ है उतना स्वतंत्रता के पूर्व भी नहीं हुआ था। अब आप ही बताइए कि हिन्दी का वह स्थान अर्थात् अजातशत्रु वाला स्थान कहां रहा? यदि परिवार में कोई सौत आ जाय तो पहली पत्नी के प्रति वह श्रद्धा-प्रेम नहीं रह जाता जो उसे सौत आने से पहले प्राप्त था। 'जिसको पिया चाहे वही सुहागिन' वाली दुर्घटना हिन्दी के साथ घट गई है। हमारी सरकार हिन्दी को तो जनता और समाज के प्रति जवाबदेही के ख्याल से लाज लिहाज वश, रखना चाहती है और अंग्रेजी को अपने मोहवश रखना चाहती है।

जब गांधी जी इस देश में आये, तभी उनका ध्यान भाषा की समस्या पर गया था। वे हिन्दी को राष्ट्रभाषा के पद पर बिठाने की इच्छा कई बार प्रगट कर चुके थे। अहिन्दी भाषा-भाषी प्रांतों में, हिन्दी सिखाने-पढ़ाने का काम उन्होंने 1918 में ही शुरू कर दिया था और वहां लाखों नर-नारी हिन्दी सीखने, लिखने, पढ़ने और ऊंची से ऊंची परीक्षा पास करने में जुट गये। गांधी जी को जैसे जैसे उस काम में सफलता मिलनी गयी, वैसे-वैसे उनका यह विचार दृढ़ होता गया कि अब सरकारी काम भी हिन्दी में होना चाहिए।

दुर्भाग्य की बात है कि जिस हिन्दी से देश को एक सूत्र में बांधने की आशा की जाती रही है, उसके संबंध में अब यह आशंका की जा रही है यह देश की एकता को नष्ट कर सकती है।

मेरी तरह देश के करोड़ों आदमी उनसे यह उत्तर मांगते हैं कि क्या देश के हमारे मनीषी, सन्त, महात्मा और विचारक लोगों को इसका ख्याल नहीं था कि हिन्दी राष्ट्रभाषा होने से देश की एकता खतरे में पड़ेगी या बढ़ेगी? उन्होंने जनता की इच्छा को समझकर ही संविधान में हिन्दी को यह स्थान दिया और शासकवर्ग की सुविधा के लिए 15 साल की अवधि रखना तय किया था। देश के कर्णधारों को राष्ट्रीय हित को ही सर्वापरि रखकर भाषा विषयक समस्या का समाधान निकालना होगा।

उर्दू और अंग्रेजी

इतिहास साक्षी है कि जिस-जिस जाति का इस देश पर शासन हुआ, उस जाति विशेष की भाषा यहां राजभाषा बनी। मुसलमान आये, उर्दू-फारसी लदी और अंग्रेज आये तो अंग्रेजी लाद कर चले गए। शासन जिस भाषा को अपनाता है उस भाषा की खुशामद में लोग लग जाते हैं चूंकि उसमें उनका आजीविका संबंधी स्वार्थ निहित है। जो इसके आदी हो गये हैं, वह इसको छोड़ना भी नहीं चाहते। इसलिए शासन की भाषा मुट्ठी भर लोगों के हाथ में रहती है। उनका जनता से बहुत कम सम्पर्क रह जाता है। ऐसे लोगों का

ही कहना है कि हिन्दी की वजह से शिक्षा का स्तर गिर गया है। मैं उनसे कहूंगा कि शिक्षा का स्तर तो उसी वजह से गिरा है जिस वजह से शासन का स्तर गिरा है अर्थात् पैरवी, पक्षपात, और भ्रष्टाचार की वजह से।

भाषा का विवाद इधर दस साल से अधिक जोर पकड़ गया है। इस विवाद की तह में प्रशासकीय कमजोरी है। नहीं तो जब यह प्रश्न संविधान सभा में उपस्थित हुआ था तब हर वर्ग का और भारत के प्रत्येक प्रान्त का यह फैसला था कि भारत की राजभाषा या राष्ट्रभाषा तो वही होगी जो यहां की भाषा है। किन्तु प्रशासन के काम काज में तुरन्त राष्ट्रभाषा लाने में कठिनाई को मद्देनजर रख कर ही 15 साल की अवधि रखी गयी थी। किन्तु जब इस पन्द्रह साल में प्रशासन ने इस पर ध्यान नहीं दिया और यह अंदाज मिल गया कि प्रशासनस्थ लोग अंग्रेजी को ही रखना चाहते हैं तब उनकी इस प्रवृत्ति को बल पहुंचाने के लिए कुछ अंग्रेजी पढ़े लिखे लोग अंग्रेजी को इस देश की भाषा रखे रहने का समर्थन करने लगे। ये समर्थक ऐसे हैं जो अब अपनी वर्तमान अवस्था में अपनी भाषा में काम करने की हिम्मत भी नहीं रखते। चूंकि विदेशी भाषा में ही उनकी शिक्षा हुई और उसी से उनको पोषण मिला, इसलिए क्षुद्र मोह या स्वार्थवश वे अपनी भाषा की उपेक्षा कर रहे हैं।

इधर अंग्रेजी के पक्ष में कई विद्वानों के लेख पढ़ने को मिले हैं। उनके पूरे लेख पढ़ने पर यह कहीं नहीं मिला कि वे अंग्रेजी को इस देश की भाषा मानने को तैयार हैं। वे भी यही विचार व्यक्त करते हैं कि इस देश की राजभाषा या राष्ट्रभाषा अंग्रेजी नहीं हो सकती किन्तु अंग्रेजी को जल्दी हटाना ठीक नहीं होगा।

पर जल्दी हटाने का प्रश्न ही कहां उठता है? 15 साल की अवधि इसके लिए कम नहीं थी। और अगर कम थी, तो इसको बढ़ाया जा सकता है। 25 वर्ष किया जा सकता है। अगर हम ईमानदारी के साथ इस काम को पूरा करना चाहते हैं तो इसके लिए हमें एक निश्चित समय रेखा निर्धारित करनी ही होगी। अन्यथा इस मसले को यों टालना आत्मप्रवंचना है जिसका निश्चित दण्ड हमें नियति से मिलेगा ही।

17. किसे मानें — प्रधानमन्त्री का आश्वासन या राष्ट्रपति का आदेश?

— प्रकाशवीर शास्त्री —

(दिल्ली प्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष, संसद में हिन्दी के सबल प्रवक्ता,
और लोकप्रिय व्याख्याता)

भारतीय संविधान में राष्ट्रपति का दर्जा ऊंचा है अथवा प्रधानमन्त्री का? एक बार यह प्रश्न उस समय उठा था, जब राजेन्द्र बाबू राष्ट्रपति थे। नेहरूजी ने अपने एक वक्तव्य में यह कह दिया था कि भारत में राष्ट्रपति को लगभग वैसे ही कृत्यों का निर्वाह करना होता है, जैसे इंग्लैण्ड में महारानी को। पण्डित जी के इस वक्तव्य से विधानवेत्ताओं में खलबली मचनी स्वाभाविक थी। समाचारपत्रों और जन-सभाओं में आवाज उठने लगी—अब इस प्रश्न का निर्णय हो ही जाना चाहिए। उस समय एक बार तो यह दिखायी देने लगा था, शायद राष्ट्र के सामने कोई बड़ा संकट आनेवाला है। परन्तु राजेन्द्र बाबू, जो अपने स्वाभाव की गम्भीरता के लिए प्रसिद्ध थे, उस बात को पी गये। देश के हित में उस समय उन्होंने विवाद बढ़ाना उचित न समझा। तब से अब तक वह प्रश्न अनिर्णीत ही है। लेकिन देर या सबेर, कभी-न-कभी यह विवाद फिर उठेगा। उसका हल क्या होगा, यह निर्णय करना आज कठिन है। परन्तु एक निर्णय तो आज भी किया जा सकता है कि कभी यदि राष्ट्रपति भी कोई आदेश जारी करे, और प्रधानमन्त्री कोई आश्वासन मात्र दे, तो उन दोनों में राष्ट्रपति के आदेश का महत्व निश्चय ही अधिक माना जायेगा। फिर आदेश भी वह जिसके लिए संविधान में विशेष रूप से राष्ट्रपति को अधिकार दिया गया हो।

संविधान-सभा जब सर्वसम्मति से संविधान के अनुच्छेद 343 में यह निर्णय कर चुकी कि संघकी राजभाषा हिन्दी और लिपि देवनागरी होगी, तब पन्द्रह वर्ष की अवधि उसे अंग्रेजी का स्थान लेने के लिए दी गयी। उसके बाद 1955 में संविधान के ही अनुच्छेद 344 के आधार पर राजभाषा सम्बन्धी सभी पहलुओं पर विचार करने के लिए स्वर्गीय श्री बालगंगाधर खेर की अध्यक्षता में एक राजभाषा आयोग नियुक्त किया गया। खेर आयोग की रिपोर्ट मिलने पर संविधान के ही उपबन्धों के अनुसार आगे चलकर संसदीय राजभाषा समिति की नियुक्ति हुई। 8 फरवरी, 1959 को इस समिति ने भी अपनी रिपोर्ट राष्ट्रपति महोदय को दे दी। राष्ट्रपति ने पूरी छानबीन के बाद 27 अप्रैल, 1960 को एक आदेश जारी किया, जिसमें संसदीय समिति की सिफारिशों के आधार पर कुछ आवश्यक निर्देश दिये गये थे। इन निर्देशों में सबसे महत्वपूर्ण निर्देश संघ लोक सेवा आयोग की परीक्षाओं के बारे में था। खेर कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में हिन्दी और अंग्रेजी, दोनों को कुछ समय तक परीक्षाओं का माध्यम रखने का सुझाव दिया था। इसपर संसदीय समिति ने कहा—परीक्षा का माध्यम अभी अंग्रेजी बनी रहे और कुछ दिन पश्चात् हिन्दी वैकल्पिक

माध्यम के रूप में अपना ली जाये। उसके बाद जब तक आवश्यक हो, अंग्रेजी और हिन्दी दोनों को ही परीक्षार्थी की इच्छानुसार परीक्षा के माध्यम के रूप में अपनाने की छूट हो। किसी प्रकार की नियत कोटा प्रणाली अपनाये बिना परीक्षा के माध्यम के रूप में विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं का प्रयोग प्रारम्भ करने की व्यावहारिकता की जांच के लिए विशेषज्ञों की एक समिति नियुक्त की जाये। राष्ट्रपति संसदीय समिति की इस राय से सहमत नहीं हुए और उन्होंने इस पर अपना आदेश दिया—“कुछ समय के पश्चात् वैकल्पिक माध्यम के रूप में हिन्दी का प्रयोग शुरू करने के लिए गृह मन्त्रालय संघ लोक सेवा आयोग के साथ परामर्श करके आवश्यक कार्यवाही करे। वैकल्पिक माध्यम के रूप में विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं का प्रयोग करने से गम्भीर कठिनाइयां पैदा होने की सम्भावना है। इसलिए वैकल्पिक माध्यम के रूप में विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं का प्रयोग प्रारम्भ करने की उपयोगिता जांचने के लिए विशेषज्ञों की समिति नियुक्त करना आवश्यक नहीं है।”

इस तरह राष्ट्रपति ने उस समय चौदह भाषाओं में संघ लोक सेवा आयोग की परीक्षाएं लेना तो दूर, वह व्यावहारिक भी रहेगा या नहीं, इसकी जांच के लिए समिति की स्थापना को भी अनुपयोगी माना। परन्तु कुछ ही समय बाद अखिल भारतीय कांग्रेस कार्यकारिणी ने अपनी बैठक में चौदहों भाषाओं में संघ लोक सेवा आयोग की परीक्षाएं होनी चाहिए, ऐसा प्रस्ताव पारित कर दिया। आगे चलकर सरकार भी उससे सहमत हो गयी। हिन्दी के माध्यम से संघ लोक सेवा आयोग में परीक्षाएं प्रारम्भ करने की लगभग सभी व्यवस्थाएं पूर्ण हो चुकी थीं। परन्तु कांग्रेस कार्यकारिणी के प्रस्ताव से हिन्दी भी अन्य भाषाओं के साथ चालू करने के लिए रोक दी गयी। यहां सब से आपत्तिजनक और असंवैधानिक बात यह है कि राष्ट्रपति का आदेश अभी कायम है। संसद अथवा दूसरे राष्ट्रपति ने उसे अब तक वापस नहीं लिया। परन्तु कांग्रेस कार्यकारिणी ने संसद और राष्ट्रपति दोनों से ऊपर होकर, उस निर्णय को प्रभावहीन कर दिया। यदि लोकतन्त्र में किसी एक दल की कार्यकारिणी द्वारा राष्ट्रपति के आदेशों की इस तरह अवहेलना होने लगेगी तो संवैधानिक मान्यताएं कहां टिकेंगी? एक ओर तो राष्ट्रपति के आदेशों की इस तरह अवहेलना की जा रही है और दूसरी ओर प्रधानमन्त्री के आश्वासन की आड़ में अंग्रेजी को सदा के लिए देश पर थोपे रखने का षडयन्त्र रचा जा रहा है। यदि राष्ट्रपति के आदेश और प्रधानमन्त्री के आश्वासन दोनों में अंग्रेजी परस्त शासकों द्वारा मुट्ठीभर लोगों के हित में केवल प्रधानमन्त्री के आश्वासनों को ही प्रमुखता दी गयी, तो देश को स्वराज्य आंदोलन की तरह स्वभाषा का भी एक संघर्ष छेड़ना पड़ेगा। कांग्रेस सरकार अपनी ऐसी ही गलत नीतियों के कारण सात हिन्दी भाषी राज्यों में से पांच में अपना अस्तित्व समाप्त कर चुकी है।

राष्ट्रपति ने समय-समय पर संविधान की व्यवस्था के अनुसार राजभाषा सम्बन्धी जो आदेश जारी किये, उन्हें ही सरकार ने यदि सच्चे मन से लागू किया होता, तो भी राजभाषा का प्रश्न बहुत हद तक सुलझ जाता। राष्ट्रपति के आदेशों और उनकी पृष्ठभूमि में गृह मन्त्रालय की समय-समय पर, 1952 से अब तक की निकली विज्ञप्तियों को ही यदि कार्यान्वित कर दिया होता तो केन्द्रीय कार्यालयों का अधिकांश काम हिन्दी में होने लगता। संविधान लागू होने के कुछ वर्ष पश्चात् दूसरी बार 1955 में राष्ट्रपति ने जो आदेश जारी किये, उनके अनुसार जनता के साथ पत्रव्यवहार, प्रशासनिक रिपोर्ट और राजकीय पत्रिकाएं एवं संसद को दिये जानेवाले प्रतिवेदनों तथा सन्धियों और करारों आदि के सम्बन्ध में अंग्रेजी के साथ-साथ हिन्दी के प्रयोग की भी व्यवस्था की गयी थी। गृह मन्त्रालयने उसी आधारपर 8 दिसम्बर, 1955 को सरकार के विभिन्न मन्त्रालयों को कुछ सुझाव दिये, जिनमें महत्वपूर्ण ये थे —

- (क) जनता से जो पत्र आदि हिन्दी में मिलें, उनके उत्तर जहां तक सम्भव हो, हिन्दी में ही दिये जायें।
- (ख) सरकारी रिपोर्ट, राजकीय पत्रिकाओं और संसद को दी जानेवाली रिपोर्टों को यथासम्भव हिन्दी, अंग्रेजी दोनों भाषाओं में दिया जाये।
- (ग) सरकारी संकल्प और अधिनियम भी यथासम्भव मूल अंग्रेजी पाठ के साथ-साथ हिन्दी में जारी किये जायें।
- (घ) जिन राज्य सरकारों ने हिन्दी को अपनी राजभाषा मान लिया है, उनके साथ पत्र व्यवहार अभी कुछ समय तक भले ही अंग्रेजी में किया जाये, परन्तु ऐसे पत्रों के साथ उनका हिन्दी अनुवाद भी भेजा जाये। 1961 में तो गृह मन्त्रालय ने संसदीय राजभाषा समिति की रिपोर्ट पर राष्ट्रपति का तीसरा आदेश जारी होने के बाद इस काम को और भी अधिक बढ़ाया। गृह मन्त्रालय ने जो आदेश सम्बन्धित मन्त्रालयों को दिये, उनमें हिन्दीभाषी राज्यों के साथ अंग्रेजी के बजाय हिन्दी में पत्रव्यवहार के अतिरिक्त मन्त्रालायों को यह भी कहा गया कि जिन अनुभागों के अधिकतर कर्मचारी हिन्दी जानते हैं, उनमें हिन्दी में टिप्पणियां लिखने की अनुमति दे दी जाये। सरकारी समारोहों के सभी निमन्त्रण-पत्र दोनों भाषाओं में छपें। सभी विभागीय कर्मचारियों को थोड़ा-थोड़ा करके प्रशिक्षण दिया जाये और प्रशिक्षित होने पर उनसे हिन्दी में काम लिया जाये। चतुर्थ श्रेणी के कर्मचारियों सम्बन्धी परिपत्र और आदेश हिन्दी में अवश्य होने चाहिए। जो कर्मचारी हिन्दी का प्रशिक्षण ले चुके हैं, उनके सेवा अभिलेखों में इस बात का उल्लेख विशेष रूप से किया जाये। सरकारी कार्यालयों और मन्त्रालयों में तारों के पते हिन्दी में रजिस्टर्ड करवाये जायें। सरकारी कार्यालयों के नामकरण भी

हिन्दी में ही होने चाहिए। उसी आधार पर पहले कृषि भवन, उद्योग भवन, और निर्माण भवन आदि नाम रखे गये, पर अब फिर ट्रांसपोर्ट भवन जैसे नाम रखे जाने लगे हैं। गृह मन्त्रालय की इन्हीं विज्ञप्तियों में राष्ट्रपति के आदेश के आधार पर वित्त मन्त्रालय आदि से कहा गया — यदि प्रशासनिक दृष्टि से असुविधाजनक न हो, वे हिन्दी भाषी राज्यों में स्थित अपने स्थानीय और शाखा कार्यालयों को हिन्दी में पत्रोत्तर देने की अनुमति दें, भले ही मूल पत्र अंग्रेजी में क्यों न प्राप्त हुआ हो।

हाथी के दांत

इन आदेशों में भारत सरकार के कार्यालयों में हिन्दी के उत्तरोत्तर प्रयोग बढ़ाने की भी बात कही गयी थी। परन्तु यह सब सम्भव तो तभी हो सकता था जब सरकार का मन साफ रहता। हिन्दी को पन्द्रह वर्ष में राजभाषा के पद पर आसीन करने का काम जिन हाथों को सौंपा गया, वे हाथ बहुत पवित्र नहीं थे। कई वर्ष पूर्व नेहरूजी ने ही भारतीय भाषाओं के लिए एक सामान्य लिपिकी आवश्यकता अनुभव करते हुए दिल्ली में राज्यों के मुख्यमन्त्रियों का एक सम्मेलन बुलाया था। इस सम्मेलन में सर्वसम्मति से देवनागरी लिपिको सभी भारतीय भाषाओं की वैकल्पिक लिपिके रूप में स्वीकार कर लिया गया। लेकिन इससे सम्बन्धित मन्त्री महोदय सम्मेलन के निर्णय को अपने गले से नीचे न उतार सके। उन्होंने अपनी ओर से राज्यों के मुख्यमन्त्रियों को एक गोपनीय पत्र इस आशय का भेजा कि वे रोमन लिपि को सभी भारतीय भाषाओं के लिए स्वीकार करें। एक हिन्दी भाषी राज्य के तत्कालीन मुख्यमन्त्री ने केन्द्रीय सरकार के इस जिम्मेदार मन्त्री की हरकत को अच्छा न बताते हुए अपना क्रोधभरा पत्र पण्डितजी को लिखा और कहा, यदि सर्वसम्मत निर्णयों पर यही अमल होना है, तो क्यों हम सबको बुलाया था? इससे भी अधिक आश्चर्यकी बात यह थी कि उसके बाद भी उनके ही हाथों में बरसों तक वह मन्त्रालय रहा। ऐसे में क्या आश्चर्य है, कि हिन्दी 1965 में राजभाषा न बन सकी।

भूतपूर्व राष्ट्रपति राजेन्द्र बाबू गांधीजी के उन परखे हुए सेनानियों में थे, जिन्होंने राष्ट्रीय एकता की इस कड़ी को मजबूत करने में अपनी परिधि में रहते हुए भी कोई कसर न उठा रखी। उन्होंने अपने आदेशों और व्यवहार के अतिरिक्त सार्वजनिक सभाओं में भी हिन्दी को चलाने के लिए प्रयत्न और सौहार्द की भावनाओं पर बराबर बल दिया। मद्रास में राष्ट्रपति के रूप में भाषण करते हुए एक बार उन्होंने कहा — “जब आप हिन्दी मद्रास पर न थोपने की बात कहते हैं, वो तो ठीक है, पर आप अंग्रेजी को क्यों जबर्दस्ती दूसरों पर थोपना चाहते हैं?”

प्रारम्भ में लगभग उन सभी देशों में, जो भारत से अपना सम्पर्क बनाए रखने अथवा उसमें घनिष्ठता लाने के लिए उत्सुक थे, अपने यहां हिन्दी की शिक्षा उत्साहपूर्वक देना

प्रारम्भ की। परन्तु जब उन्होंने देखा की भारत सरकार ही स्वयं इस विषय में पीछे जा रही है तो उनके भी कदम पीछे पड़ने लगे। उन दिनों भारत में हिन्दी अध्यापकों की विदेशों के लिए बड़ी तेजी से मांग भी बड़ी। लेकिन वह धीरे-धीरे कम ही होती चली गयी। विदेशों के शासनाध्यक्ष जब भारत में आकर अंग्रेजी के अच्छे ज्ञाता होने के बावजूद अपनी भाषा का प्रयोग गौरव की बात समझते थे, तब भारतीय नेताओं को उस समय अपनी भूल का एहसास हुआ। लेकिन अब तो लगता है सरकार का मन ऐसे समारोहों में भी निर्लज्ज बन चुका है।

राजेन्द्र बाबू ने राष्ट्रपति के आसन से भारत के उन्नत भविष्य की कल्पना करते हुए हिन्दी के क्रमिक विकास सम्बन्धी आदेश दिये थे। परन्तु प्रधानमन्त्री नेहरू के आश्वासनों की आड़ में वे सब चन्द नेताओं ने प्रभावहीन कर दिये और अब फिर उनके अंग्रेजी सम्बन्धी उलझे तथा लचर आश्वासनों की आड़ में कुछ लोग अपना मनमाना खेल खेलना चाहते हैं। लेकिन हिन्दी के लिए भी कहीं कुछ आश्वासन उन्होंने दिये थे, इसकी चर्चा भी नहीं करना चाहते। नेहरू जी के जिस आश्वासन को बहाना बनाकर राजभाषा अधिनियम में फिर से संशोधन की बात उठी है, उसमें कहीं भी नेहरू जी ने यह नहीं कहा कि एक भी अहिन्दी भाषी राज्य जब तक न चाहे, तब तक अंग्रेजी बराबर भारत में बनी रहेगी। भला एक छोटे राज्य को देश की प्रगति में रुकावट डालने का विशेष अधिकार (वीटो पावर) कैसे दिया जा सकता है? ऐसा होने से जनतन्त्र की नाव कैसे किनारे लगेगी?

18. भाषा विधेयक का घातक पहलू

— शिवचन्द्र शर्मा —

(सुप्रसिद्ध लेखक और विचारक)

राज भाषा विधेयक में प्रस्तावित धारा 3 की उपधारा (2) के अनुसार केन्द्रीय सरकार के किसी एक कार्यालय से केन्द्रीय सरकार के ही दूसरे कार्यालय को हिन्दी में भेजे जाने वाले पत्र के साथ में अंग्रेजी अनुवाद भेजना जरूरी होगा।

किसी हिन्दी पत्र का अंग्रेजी अनुवाद या अंग्रेजी पत्र का हिन्दी अनुवाद कराने की आवश्यकता तभी पड़ती है, जब पत्र पाने वाला उसको पढ़ या समझ न सके।

केन्द्रीय सरकार के कार्यालयों में हिन्दी के पत्र वर्षों से आ रहे हैं, राष्ट्रपति के सन 1955 के आदेशों के अनुसार उनका उत्तर भी हिन्दी में दिया जा रहा है।

अप्रैल 1962 में भारत सरकार ने हिन्दी भाषी क्षेत्रों में स्थित केन्द्रीय सरकारी कार्यालयों को इस बात की भी छूट दी कि वे अपने पत्र और उत्तर हिन्दी में भेज सकते हैं, भले ही मूल पत्र अंग्रेजी में प्राप्त हुआ हो।

इन सभी पत्रों का अनुवाद अंग्रेजी में कराने की आवश्यकता नहीं पड़ती। जहां कहीं, पड़ती है, वह अनुवाद हिन्दी के पत्र भेजने वाले व्यक्ति या कार्यालय से नहीं मंगाया जाता। वह अनुवाद पत्र पाने वाले कार्यालय में ही कराया जाता रहा है।

धीरे-धीरे अनुवाद की आवश्यकता और भी कम होती जा रही है। केन्द्रीय सरकार के कार्यालयों में लिखापढ़ी करने वाले कर्मचारियों में अब अधिकांश कर्मचारी हिन्दी जानते हैं। मैट्रिक तक हिन्दी पढ़े हुए व्यक्ति काफी संख्या में पहले से ही कार्यालयों में थे। हजारों ने राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन आदि की परीक्षाएं पास की हैं। इनके अतिरिक्त भारत सरकार की हिन्दी शिक्षण योजना के अंतर्गत लगभग 1,84,000 व्यक्तियों ने हिन्दी सीखी है।

अब भारत में शायद ही कोई ऐसा केन्द्रीय कार्यालय होगा जहां हिन्दी जानने वाले कर्मचारी न हों।

अनुवाद कहां किया जाए

यदि ऐसा कानून बना कि किसी केन्द्रीय कार्यालय से जब कभी कोई पत्र हिन्दी में भेजा जाए तो उसके साथ अंग्रेजी अनुवाद अवश्य भेजना होगा, तब अनुवाद कार्य कई गुना

हो जाएगा, क्योंकि इस समय केवल आवश्यकता पड़ने पर ही अनुवाद कराया जाता है, फिर आवश्यकता हो या न हो सभी पत्रों का अंग्रेजी अनुवाद करना होगा।

यदि अंग्रेजी अनुवाद उस कर्मचारी को करने को कहा गया जो पत्र हिन्दी में तैयार कर रहा है तब उसे दोहरा काम करना पड़ेगा जो न्यायोचित नहीं होगा।

यदि अनुवाद कार्य अनुवादकों द्वारा कराना है तब सरकार के लिए यह एक ही बात है कि अनुवादक का पद इस कार्यालय में बने या दूसरे में। परंतु यदि अनुवाद कराने की बात पत्र प्राप्त करने वाले कार्यालय के लिए छोड़ी जाए तब अनुवादक थोड़े रखने होंगे, क्योंकि अनुवाद की आवश्यकता उन थोड़े पत्रों के लिए पड़ेगी जिनको प्राप्त करने वाले कर्मचारी हिन्दी न समझते हों।

व्यावहारिकता, कम खर्च, हिन्दी जानने और न जानने वाले कर्मचारियों की सुविधा तथा अन्य अन्य सभी दृष्टियों से बात स्पष्ट है कि

- (क) हिन्दी के सभी पत्रों का अनुवाद अनिवार्य रूप से कराने की आवश्यकता नहीं है।
- (ख) जिस कर्मचारी ने पत्र हिन्दी में तैयार किया है उसे ही उसका अंग्रेजी अनुवाद तैयार करने के लिए बाध्य करना न्यायोचित नहीं होगा।
- (ग) अनुवाद की व्यवस्था अलग करनी है तो अधिक सुविधा और कम खर्च इसमें होगा कि अनुवाद पत्र प्राप्त करने वाले कार्यालय में आवश्यकता अनुभव होने पर ही कराया जाए।
- (घ) अनुवाद की व्यवस्था तभी तक जारी रहे जब तक काफी कर्मचारी हिन्दी न सीख लें। हिन्दी सिखाने की गति बढ़ाई जाए।

यदि विधेयक की अनुवाद संबंधी उपधारा इसी प्रकार बनी रही तो इसका अर्थ होगा कि (क) केन्द्रीय सरकार के रेल, डाकघर, आयकर, सेंट्रल एक्साइज आदि विभागों के जो कार्यालय हिन्दी भाषी प्रदेशों में हैं, वे भी परस्पर हिन्दी में पत्र व्यवहार नहीं कर सकेंगे। यदि कोई हिन्दी में पत्र लिखना भी चाहेगा तो अंग्रेजी अनुवाद साथ भेजने की बाध्यता होने से उसे निरुत्साहित होना पड़ेगा।

(ख) इस समय जहां कहीं थोड़ा बहुत पत्र व्यवहार हिन्दी में होता है, वह भी बंद हो जाएगा।

(ग) जबकि अंग्रेजी का प्रयोग करने की सभी जगह पूरी छूट रहेगी, हिन्दी के प्रयोग पर अनेक बंधन हो जाएंगे।

अतः अनुवाद संबंधी उपधारा बदली जानी चाहिए।

19. नेहरू जी के आश्वासनों के नाम पर जनता से छल

— डॉ. कैलाशचन्द्र भाटिया —

राजभाषा संशोधन विधेयक के अनुसार अंग्रेजी का अबाधित प्रयोग चलता रहेगा और हिन्दी राजभाषा के पद पर तब तक आसीन नहीं की जाएगी जब तक कि सभी अहिन्दी भाषा-भाषी राज्य सहमत न हों। कहा गया है कि प्रस्तुत विधेयक हमारे भूतपूर्व स्व. प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू द्वारा दिये गये आश्वासन के आधार पर रखा गया। इन्हीं आश्वासनों को भूतपूर्व प्रधानमंत्री लाल बहादुर शास्त्री ने भी कभी दुहराया था। अतएव उनका नाम भी उसके साथ जोड़ दिया गया है।

फ्रेंक एन्थनी का विधेयक

जरा हमको यह देखना है कि ये आश्वासन कौन से हैं और मूलतः कब दिये गये थे? मैं यहां संसद की कुछ पिछली घटनाओं का स्मरण दिलाना चाहता हूं। वस्तुस्थिति यह है कि लोकसभा में 24 अप्रैल 1959 को नामजद सदस्य फ्रेंक एन्थनी द्वारा भारतीय संविधान की अष्टम अनुसूची में अंग्रेजी को जोड़ देने के हेतु एक विधेयक प्रस्तुत किया गया था। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि अंग्रेजी को अष्टम सूची में रखने का प्रश्न इससे पूर्व संविधान सभा में उठा था जिसका विरोध सभी पक्षों ने किया था। यहां तक कि श्री जवाहरलाल नेहरू ने भी विरोध प्रकट करते हुए उस समय स्पष्ट शब्दों में अंग्रेजी में जो कुछ कहा था उसका हिन्दी रूपान्तर इस तरह है:

‘यह काम करना स्पष्टतः एक गलत चीज होगी क्योंकि अंग्रेजी एक भारतीय भाषा नहीं हो सकती यद्यपि यह कुछ भारतीयों जैसे एंग्लो इंडियन जाति द्वारा मातृभाषा के रूप में अपना ली गई है। अतएव शिडुल (अनुसूची) में भारतीय भाषाओं की भांति अंग्रेजी को सम्मिलित करना बिल्कुल बेहूदा तथा नाजायज होगा। अंग्रेजी को सम्मिलित करने का कदम वस्तुतः भारतीय भाषा के द्वारा अंग्रेजी का स्थान लिये जाने के मूल सिद्धान्त को ही छोड़ देना है। यह संविधान की भावना तथा उसके मूल विषय और साथ ही पिछले अर्ध शतक के हमारे आधुनिक इतिहास के नितान्त प्रतिकूल होगा।’

लोकसभा में 24 अप्रैल 1959 को प्रस्तुत विधेयक पर जब 7 अगस्त, 1959 को बहस हुई और उसमें श्री जवाहरलाल नेहरू ने भी भाग लिया तो इस भाषण में उन्होंने अंग्रेजी का कुछ ऐसा पक्ष लिया कि बाद में विधेयक को वापिस लेते हुए फ्रेंक एन्थनी को यह स्वीकार करना पड़ा कि उनको प्रधानमंत्री के भाषण से आवश्यकता से अधिक प्राप्ति हो गई। इस भाषण में ही उन्होंने यह भी कहा कि मैं यह नहीं भूल सकता कि हमें अपने साथ 40 करोड़ जनता को साथ लेकर चलना है न कि कुछ हजार या एक या दो लाख प्रमुख

लोगों को।' यहां कुछ हजार या लाख-दो लाख प्रमुख लोगों से उनका इशारा अंग्रेजी दां लोगों की जाति से था जो आज अपनी तथा पब्लिक स्कूलों में पढ़े-लिखे अपने बच्चों की खातिर इस बिल को पास करवा लेने के लिए उतारू है। नेहरू जी जननायक थे और हमेशा उन्होंने जनता का पक्ष लिया है, यह बात किसी से छिपी नहीं है।

एक विडम्बना

लोकसभा में दिये गये 7 अगस्त 1959 के भाषण में ही उन्होंने बिल से असंबद्ध कुछ बातें भी कह दी थीं जैसे शिक्षा के माध्यम पर बड़े जोरदार शब्दों में भारतीय भाषाओं का पक्ष लिया था। यह भी एक आश्वासन था जिसको क्रियान्वित करने की घोषणा पिछले अगस्त में सरकार करना चाहती थी। लेकिन तत्कालीन शिक्षामंत्री श्री छागला ने त्यागपत्र दे दिया। यह भी एक विडम्बना है, पर तथ्य है जिसको झुठलाया नहीं जा सकता। अपने उसी भाषण में ही नेहरू जी ने अंग्रेजी वालों तथा अहिन्दी भाषा-भाषियों को भी कुछ आश्वासन दिये थे। आगे चलकर जब दक्षिण में हिन्दी के प्रश्न को लेकर काफी दंगे हुए तो प्रधानमंत्री लालबहादुर शास्त्री ने नेहरू जी के ही उदाहरणों को रेडियो-भाषण में दुहरा दिया था।

स्व. नेहरू जी द्वारा दिये गये आश्वासनों के आधार पर ही लोकसभा में राजभाषा बिल 13 अप्रैल सन 1963 को तत्कालीन गृहमंत्री स्व. लालबहादुर शास्त्री द्वारा प्रस्तुत किया गया। काफी हंगामे और विरोध के बावजूद नेहरू जी ने अपने आश्वासनों को मूर्त रूप दिये गये इस बिल को पास करवा दिया था।

नेहरू जी ने स्वयं अपने भाषण में इस बिल का आधार अपने आश्वासन को स्वीकार किया है जो अहिन्दी भाषा-भाषियों को प्रसन्न करने के उद्देश्य से प्रस्तुत किया गया था। अहिन्दी-भाषा-भाषी यह अविश्वास भी करने लगे थे कि सरकार इस बिल को प्रस्तुत न कर टालना चाहती है। इसका खंडन करते हुए स्व. नेहरू जी ने कहा था कि 'यह बिल इस सदन में दिये गये आश्वासन को पूरा करने के लिए है। सदन के समक्ष बहुत अधिक कार्य होते हुए भी हमने इसको प्रस्तुत करने के लिए आग्रह किया है जिससे उन लोगों को प्रसन्न किया जा सके जो यह सोचते थे कि हम इस मामले को यों ही किसी न किसी कारण से टालते जा रहे हैं क्योंकि हम इसको सदन के समक्ष रखने का साहस नहीं रखते।'।

आगे चलकर इसी भाषण में यह स्पष्ट किया गया कि कहां तक यह बिल उनके आश्वासन को पूरा करता है। इसी भाषण में फ्रेंक एंथोनी से अंग्रेजी के 'मे' शब्द के प्रयोग पर झड़प भी हुई थी और उन्होंने बिल में 'मे' के प्रयोग को ही ठीक बताया था।

नेहरूजी की स्पष्टोक्ति

इस बिल के पक्ष में अनेक तर्कों के साथ अपना मत प्रस्तुत करते हुए भी नेहरू जी ने कहा था कि फिर भी 'मुझे' बहुत समय से पूरा यकीन है और आज मैं पूरी तरह से आश्वस्त हूँ कि भारत में जनता में कोई भी वास्तविक चेतना, जनता में जागरण अंग्रेजी के द्वारा नहीं हो सकता, यह बात मेरे लिए पेटेंट है, आज नहीं किन्तु पिछले 40-50 वर्षों से उस समय से जब से कि मैं देश में जनकार्य में जुटा हूँ।'

आगे चलकर उन्होंने यह भी स्पष्ट किया था कि 'तुम अंग्रेजी को रख सकते हो, तुम उसको पसन्द भी कर सकते हो, मैं भी पसन्द करता हूँ, लेकिन वह भाषा, वास्तविक भाषा, जिसमें जनता अपना विकास करती है वह है जिसको वह समझती है जिसके प्रति उनकी भावात्मक प्रतिक्रिया होती है। राष्ट्रीय भाषा के क्षेत्र में केवल राष्ट्रीय भाषाएं स्थान रखती हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं है। इस संबंध में अंग्रेजी की बात कही ही नहीं जा सकती। हमको स्वीकार करना चाहिए कि अंग्रेजी वह भाषा हो ही नहीं सकती जो जन-साधारण में समझी जा सके, भारत के जन सामान्य में भावना जागृत कर सके। वे भारत की भाषाएं ही हो सकती हैं चाहे वे तमिल, हिन्दी, बंगाली या मराठी हों।'

अंग्रेजी जानने वालों की भी जाति बन गयी है जिसको उन्होंने 'टेरीबिल कास्ट' कहा था और आज यही जाति जनता के अधिकारों को भयानक रूप से छीनने को तैयार है। इसी भाषण में नेहरू जी ने स्पष्ट शब्दों में सदन में घोषणा की थी कि 'एक सम्पर्क भाषा आवश्यक है। वह अंग्रेजी नहीं हिन्दी ही है और कोई नहीं। हम अधिक समय तक किसी तरह अंग्रेजी को नहीं रख सकते।'

यह माना जा सकता है कि किन्हीं कारणों से नेहरू जी को अंग्रेजी से मोह था जिसको वह भी स्वीकार करते थे पर जननायक नेहरू को भारत की मिट्टी से प्यार था जिसमें आज उनका कण-कण समाहित हो चुका है और प्यार था भारत की जनता से। भारत की जनता के साथ आज उसके जाननायक के आश्वासन की आड़ में धोखा दिया जा रहा है। जब नेहरू जी ने अपने दिये गये आश्वासन को ही विधेयक का रूप देकर अपने जीवनकाल में ही तत्कालीन गृहमंत्री लालबहादुर शास्त्री जी के द्वारा सदन में प्रस्तुत करवा कर पास करवा दिया था, फिर यह संशोधन कैसा?

क्या यह कांग्रेस सरकार का नेहरू के प्रति अविश्वास नहीं है? क्या यह नेहरू जी के वचनों की अवहेलना कर जनता के प्रति विश्वासघात नहीं है? क्या यह उनके नाम का दुरुपयोग नहीं है? क्या इस काले बिल के द्वारा हम नेहरू जी की आत्मा को कष्ट नहीं पहुंचा रहे हैं? ये ज्वलन्त प्रश्न हैं जिनका उत्तर जनता मांगती है।

20. शंकराचार्यों का अह्वान

— शिवकुमार गोयल —

(प्रसिद्ध पत्रकार)

आद्य शंकराचार्य ने भारतीय संस्कृति का उद्धार करने के लिए देश के चारों कोनों पर चार मठों की स्थापना की थी। बद्रीकाश्रम में ज्योतिषीठ, उड़ीसा में पुरी पीठ, गुजरात में द्वारिका पीठ एवं दक्षिण में श्रृंगेरी पीठ आदि शंकराचार्य द्वारा प्रस्थापित पीठ हैं। पिछले दिनों इन चारों पीठों के शंकराचार्यों से राजभाषा-विधेयक के सम्बन्ध में उन के विचार पूछे गए। यद्यपि अन्य सैद्धन्तिक या शास्त्रीय विषयों में इन आचार्यों के पारस्परिक मतभेद हो सकते हैं तथापि अंग्रेजी की दासता के जुए को उतार फेंकने और भारतीय भाषाओं की प्रस्थापना करने के बारे में चारों एकमत हैं।

ज्योतिषीठ के शंकराचार्य

बद्रीकाश्रम ज्योतिषीठ के जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी कृष्णबोधाश्रम महाराज ने इन्द्रप्रस्थ मार्ग स्थित धर्मसंघ, विद्यालय में राजभाषा-विधेयक के बारे में लेखक के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा — “मैं तो भारत स्वाधीन होने से अब तक बराबर अंग्रेजी को देश निकाला देकर हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने और अन्य भारतीय भाषाओं की प्रगति की मांग करता रहा हूँ। जब हम अपने देश पर विदेशियों का शासन सहन न कर सके, तब फिर भारतीय संस्कृति, धर्म एवं सभ्यता को जड़मूल से उखाड़ने वाली अंग्रेजी भाषा से छुटकारा क्यों नहीं पाते?”

श्री शंकराचार्य ने स्वयं ही अपने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा — “इस का एकमात्र कारण यही है कि कुर्सी पर गोरों की जगह काले अंग्रेज बैठ गए हैं, जो न अपनी सभ्यता संस्कृति को पसन्द करते हैं न वेशभूषा और भाषा को। वे अंग्रेजी में बोलना, उस का प्रयोग करना गौरव की बात समझते हैं, किन्तु उन्हें यह ध्यान रखना चाहिए कि जब तक विदेशी भाषा का बहिष्कार कर के हम अपनी जन-जन की हिन्दी भाषा को महत्व न देंगे, तब तक हम पूर्ण स्वाधीन कहलाने के अधिकारी नहीं हैं।”

श्रृंगेरी मठ के शंकराचार्य

श्रृंगेरी मठ के जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी अभिनव विद्यातीर्थ यद्यपि मूलतः आन्ध्रनिवासी हैं तथापि वे तेलुगु, मलयालम, कन्नड एवं संस्कृत के धुरन्धर ज्ञाता हैं। उन्हें अंग्रेजी का भी विस्तृत ज्ञान है। पिछले दिनों उन के राजधानी-प्रवास के समय जब एक भेंट में उन से ‘अंग्रेजी और हिन्दी’ के विषय में प्रश्न किया गया, तब उन्होंने ने कहा —

“समस्त भारतीय भाषाओं में हिन्दी सर्वाधिक प्रचलित भाषा है। अतः वही राष्ट्र की भाषा है। अंग्रेजी को बनाए रखना तो सर्वथा अनुचित और व्यर्थ ही है। अंग्रेजी के स्थान पर भारतीय भाषाओं की प्रगति के लिए उन का प्रचार-प्रसार करना चाहिए।”

जब लेखक ने उन से प्रश्न किया कि ‘दक्षिण में हिन्दी का विरोध क्यों है?’ तब दाक्षिणात्य शंकराचार्य ने उत्तर दिया — “जनसाधारण में किसी भी भारतीय भाषा का किंचित भी विरोध नहीं है। यह सब राजनीतिक प्रोपेगण्डे और व्यक्तिगत स्वार्थों के कारण ही स्टण्ट खड़ा किया गया है।”

द्वारिका पीठाधीश्वर

द्वारिका के शारदापीठ के जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी अभिनवसच्चिदानन्दतीर्थ जी महाराज कर्नाटकी हैं। वे कन्नड़, तेलुगु, गुजराती, हिन्दी और संस्कृत के विद्वान हैं। उन से राजभाषा विधेयक के सम्बन्ध में प्रश्न करने पर उन्होंने ने कहा — “भारत के स्वाधीन होते ही 15 अगस्त, 1947 के दिन दो काम किए जाने चाहिए थे, सब से पहले गोहत्या के कलंक का उन्मूलन और दूसरा अंग्रेजी की विदाई, किन्तु देश का दुर्भाग्य है कि आज देश के माथे पर दोनों कलंक चिपके हुए हैं।”

“द्रविड़ मुनेत्र कड़गम और राजा जी आदि ने जो अंग्रेजी के अंध-समर्थन का जिहाद छेड़ा हुआ है, उस का आप के विचार में कारण क्या है?” लेखक के इस प्रश्न पर दक्षिणवासी धर्माचार्य ने कहा — “केवल राजनीतिक स्वार्थ।”

उन्होंने ने आगे कहा — “यह विचित्र बात है कि दो प्रतिशत लोगों को समझ में आने वाली विदेशी भाषा समस्त भारतीय भाषाओं को अपने शिकंजे में जकड़े हुए है। जब तक हम अंग्रेजी से पूरी तरह से अपना पिण्ड न छुड़ाएंगे, तब तक हिन्दी और संस्कृत ही क्या तेलुगु, मलयालम, कन्नड़, उड़िया, गुजराती आदि किसी भी भारतीय भाषा की प्रगति असम्भव है। हमें संगठित हो कर अंग्रेजी की गुलामी से मुक्त होना ही चाहिए।”

उन्होंने ने यह भी कहा — “अंग्रेजी भारतीय सभ्यता, संस्कृति और आचार-विचार को 90 प्रतिशत निगल चुकी है अब हमें इस के खूनी पंजों से अपनी शेष बची संस्कृति की तो रक्षा करनी ही चाहिए।”

पुरी के जगद्गुरु

गोरक्षा के लिए अनशन कर के सर्वाधिक राष्ट्रीय एवं अंतर-राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त करने वाले पुरी (उड़ीसा) मठ के जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी निरंजनदेवतीर्थ महाराज इस पद पर प्रतिष्ठित होने से पूर्व पत्रकार, राजनीतिक नेता एवं शिक्षाशस्त्री रहे हैं। मूलतः

राजस्थान के निवासी होते हुए भी वे संस्कृत, उड़िया और गुजराती के विद्वान हैं। अंग्रेजी पर भी उन का अधिकार है। उन से प्रश्न किया — “महाराजश्री, राजभाषा—विधेयक द्वारा अंग्रेजी को अनन्त काल के लिए थोपने का षडयंत्र रचा गया है। इस सम्बन्ध में आप का क्या मत है?”

उन्होंने ने उत्तर दिया — “भाषा—संशोधन—विधेयक राष्ट्र के वर्तमान कर्णधारों की अंग्रेजी गुलामी का स्पष्ट प्रतीक है। यदि भारतीय भाषाओं का काल यह काला विधेयक स्वीकृत हो गया, तो राष्ट्र पर दोहरा प्रहार होगा। एक ओर तो उस की अपनी भाषा सदा के लिए विलग हो जाएगी और विदेशी भाषा की दासता में राष्ट्र अनश्चितकाल के लिए जकड़ा ही रहेगा।”

“बहुत से नेता कहते हैं कि अंग्रेजी को समाप्त कर देने से ज्ञान की खिड़कियां बंद हो जाएंगी तथा हिन्दी भाषा समर्थ भाषा नहीं है,” — लेखक ने प्रश्न किया।

“खिड़कियां बंद हो कर दरवाजे जो खुल जाएंगे,” उन्होंने ने उत्तर दिया — “इजराइल—जैसा नवोदित राष्ट्र समस्त संसार में मृत मान ली गई हिब्रू भाषा को राष्ट्रभाषा के पद पर अधिष्ठित कर के भारी प्रगति कर सकता है, किन्तु भारत हिन्दी—जैसी समृद्ध भाषा को राष्ट्रभाषा न बना कर अंग्रेजी का बोझा राष्ट्र के सिर पर लादे चला आ रहा है। समस्त विश्व में भारत ही हतभाग्य राष्ट्र है कि जिस ने अपनी मौलिक भाषा को दासी बना कर विदेशी भाषा को राष्ट्रभाषा का पद दिया है।”

पुरी के श्री शंकराचार्य ने धार्मिक जनता के नाम अपना संदेश देते हुए कहा — “समस्त भारतीय देशभक्त जनता को इस राष्ट्रविरोधी और भारतीय भाषाओं को डसने वाले राजभाषा विधेयक का डट कर विरोध करना चाहिए। तभी हम अंग्रेजी के इस कलंक से मुक्त हो सकेंगे।”

21. अंग्रेजी—समर्थक आदेश की परवाह न करें

— सेठ गोविन्ददास —

(प्रसिद्ध नाटककार और लेखक, सबसे पुराने कांग्रेसी संसद सदस्य, अ०भा० हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष, राजभाषा विधेयक में संशोधन को सर्वोच्च न्यायालय में चुनौती देने वाले और विधेयक के विरोध में 'पद्मभूषण' के परित्यक्ता)

प्रश्न: राजभाषा के संबंध में नये विधेयक का आशय और उद्देश्य क्या है?

स्वर्गीय पं. जवाहरलाल नेहरू ने अहिन्दी भाषियों को जो आश्वासन दिये थे, उन्हें कानूनी रूप देने के लिए यह विधेयक लाया गया है। सन् 1963 में भाषा के सम्बन्ध में संसद में एक विधेयक पारित हो चुका है। पण्डित जी के वे आश्वासन सन् 1963 के विधेयक में कानून का रूप पा चुके हैं। अतः फिर से ये आश्वासन कानून का कौन-सा रूप पाने वाले हैं, यह कम से कम मेरी समझ में नहीं आता। इस विधेयक में यह बात रखी गई है कि अंग्रेजी वर्तमान रूप में तब तक चलती रहेगी, जब तक एक भी अहिन्दी भाषी राज्य अंग्रेजी को हटाने के विपक्ष में रहेगा। यत्र-तत्र, कभी-कभी यह सुनने में आता है कि हिन्दी अहिन्दी भाषियों पर लादी जा रही है। परन्तु यदि उपर्युक्त बात इस नये विधेयक में आने वाली है, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी नहीं, किन्तु अंग्रेजी सारे देश पर लादी जा रही है; और यदि नागालैण्ड के सदृश राज्य, जहां कि जनसंख्या केवल चार लाख है, यदि यह चाहे कि अंग्रेजी न हटायी जाये, तो कुछ लाख व्यक्तियों की राय पचास करोड़ जनसंख्या पर लदी रहेगी और अंग्रेजी कदापि नहीं हटेगी। यह सारा आयोजन स्पष्ट रूप से सदा अंग्रेजी को कायम रखने के लिए है, जो प्रजातन्त्र के सारे सिद्धान्तों के विरुद्ध है, तथा राष्ट्रीयता और भारतीय संविधान के भी प्रतिकूल है।

प्रश्न: इस विधेयक के विरोध में आप क्या कदम उठाने वाले हैं?

— आप शायद जानते होंगे कि सन् 1963 में अंग्रेजी को अनिश्चित काल तक चलाने के लिए जो विधेयक आया था, उसका भाषण द्वारा तथा मतदान द्वारा, दोनों ही प्रकार से, मैंने विरोध किया था। कांग्रेस दल का संसद के दोनों सदनों में, अर्थात् लोकसभा में और राज्यसभा में, मैं ही एकमात्र सदस्य था, जिसने यह किया था और सचेतक के निर्देश की भी अवहेलना की थी।

इस बार भी मैं यह तो करूंगा ही, परन्तु न्यायालय में इस विधेयक के विरुद्ध समादेश याचिका (रिट) कांग्रेस में रहते हुए भी दायर करूंगा।

प्रश्न: क्या हिन्दी साहित्य सम्मेलन अन्य अहिन्दी भाषी राज्यों में जनमत तैयार करने के लिए दक्षिण की तमिल अरासु कषगम जैसी 'अंग्रेजी हटाओ' समर्थक संस्थाओं से सहयोग मांगेगा?

— अवश्य। क्योंकि यह विधेयक केवल हिन्दी के विरुद्ध नहीं बल्कि समस्त भारतीय भाषाओं के विरुद्ध है। आज जो कतिपय सज्जन और संस्थाएं अंग्रेजी चलाने के पक्ष में अपनी राय जाहिर करती हैं, वे दुर्भाग्यवश यह नहीं सोचतीं कि अंग्रेजी का यह चलन केवल हिन्दी के विरुद्ध न होकर समस्त भारतीय भाषाओं का विरोधी है। जब तक अंग्रेजी इस देश से नहीं हटती, तब तक केवल हिन्दी का ही नहीं, किसी भी भारतीय भाषा का उत्थान सम्भव नहीं है।

प्रश्न: इस दृष्टि से तो विभिन्न प्रदेशों में चल रहे प्रादेशिक भाषाओं में राजकाज चलाने के आन्दोलन भी सही हैं। क्या आप उनका समर्थन करते हैं?

— बेशक! मैं केवल हिन्दी का समर्थक नहीं हूँ। मैंने सदा समस्त भारतीय भाषाओं का समर्थन किया है। मेरा स्पष्ट मत है कि अंग्रेजी का स्थान केवल हिन्दी भाषा नहीं ले सकती। समस्त भारतीय भाषाओं को मिलकर अंग्रेजी का स्थान लेना होगा। संघ लोकसेवा आयोग के लिए जब यह प्रश्न उठा कि परीक्षा का माध्यम समस्त भारतीय भाषाओं को रखा जाये, तब मैंने इसका समर्थन किया था। लोकसभा में जब यह प्रश्न उठा कि प्रत्येक सदस्य को अपनी मातृभाषा में बोलने का अधिकार रहे, तब मैंने अपने लोकसभा के भाषण में इसका भी समर्थन किया और यह कहा कि इन भाषणों के हिन्दी और अंग्रेजी तत्काल अनुवाद की व्यवस्था सरकार करे। जब राष्ट्रसंघ में पांच भाषाएं चलती हैं और इनका तत्काल अनुवाद होता है, तब हमारे यहां भी इस प्रकार की व्यवस्था हो सकती है। मैंने तो लोकसभा में यहां तक कहा कि इन दो बातों के सिवा भी अहिन्दीभाषी अपनी भाषाओं के लिए और क्या-क्या चाहते हैं, इसपर विचार करने के लिए उनकी एक बैठक बुलायी जाये और उनके जो उचित तथा व्यावहारिक प्रस्ताव हों उन्हें स्वकृत कर लिया जाये!

प्रश्न: हर बार हिन्दी प्रान्तों पर यह कहकर अंग्रेजी लाद दी जाती है कि कुछ अहिन्दी प्रान्त अंग्रेजी के समर्थक हैं। क्या अब वह अवसर नहीं आ गया है जब हिन्दीभाषी प्रान्त जरूरी हो तो केन्द्र की नीति के विरुद्ध स्पष्ट विरोध प्रकट करके भी अंग्रेजी को राजकाज और शिक्षा के माध्यम के रूप बिल्कुल अस्वीकार कर दें — चाहे उसके लिए कुछ भी संघर्ष क्यों न करना पड़े?

— यथार्थ में आधे भारत में हिन्दी न चलने की जिम्मेदारी हिन्दीभाषी राज्यों की है। उत्तर प्रदेश, बिहार, राजस्थान, मध्यप्रदेश और हिमाचल प्रदेशने सन् 1948 और 52 के बीच में हिन्दी को अपने-अपने राज्य की राजभाषा मान लिया है। हरयाणा ने हाल ही में घोषणा

की है कि उसकी राजभाषा भी हिन्दी ही होगी। यही घोषणा दिल्ली क्षेत्रने भी की है। इस प्रकार ये समस्त राज्य और क्षेत्र अपना समूचा कार्य हिन्दी में चलाने के लिए वचनबद्ध हैं। इसके लिए केन्द्रीय सरकार इनके मार्ग में बाधक हो ही नहीं सकती। केन्द्रीय सरकार का और इन राज्य सरकारों का जो पत्रव्यवहार हो वह हिन्दी में हो, यह केन्द्रीय सरकार स्वीकार भी कर चुकी है। परन्तु इतने पर भी यदि कुछ बातें ऐसी हों, जिनमें अंग्रेजी चलाने के लिए केन्द्रीय सरकार बाधा या दबाव डाले तो भी इन सरकारों को इसकी परवाह न कर अपना-अपना समस्त कार्य हिन्दी में ही करना चाहिए। यदि ये सरकारें अभी भी अपने यहां अंग्रेजी को चलाना चाहती हैं, तो जनता को इन राज्य सरकारों के विरुद्ध सत्याग्रह की भी तैयारी करनी चाहिए। जिस प्रकार अंग्रेजी राज हटाने के लिए सबसे अधिक संघर्ष हिन्दीभाषी राज्योंने ही किया, उसी प्रकार अंग्रेजी हटाने के लिए भी चाहे कितना ही एवं कितने काल तक संघर्ष करना पड़े, उसके लिए हमें तैयार रहना चाहिए, क्योंकि मेरा स्पष्ट मत है कि अंग्रेजी राज जाने के बाद भी यदि अंग्रेजी रहती है, तो सच्चे स्वराज्य की स्थापना नहीं हुई।

22. अपराधी कौन — जनता या सरकार?

— सूर्यनारायण व्यास —

(प्रसिद्ध ज्योतिषी, 'विक्रम' मासिक के सम्पादक और राजभाषा विधेयक के विरोध में सरकारी अलंकरण 'पद्मभूषण' के परित्यक्ता)

भारत की घोषित महारानी हिन्दी का आधा सिंहासन मैडम अंग्रेजी ने कुछ वर्ष पूर्व ही भारतीय शासकों को अपने व्यामोह में फंसा कर छीन लिया था, अब वह अनन्त काल के लिए 'बेटर-हाफ' बनने को आतुर हो गई है। क्यों कि उस से आका नेहरू जी ने 'वादा' किया था! हालां कि सरदार ने देशी नरेशों को भी ग्रिवी पर्स देने का समझौता किया था, (वादा ही नहीं) उसे सूखी लकड़ी की तरह तोड़ देने को जो सरकार बेचैन है वह महज 'वादे' को वैधानिक बनाने के लिए 'समाजवादी समाज' की साक्षी दे रही है। भला एक 'लिपस्टिक-ललना' का मुकाबला सरल भारतीय भाषा-भामिनी हिन्दी कैसे कर सकती है? जब कि स्वयं सरकार और उस से आकर्षित अधिकारी मैडम पर मुग्ध बन रहे हों और उसे आत्मसमर्पण करने को उत्सुक हों। अनेक वे भारतीय जिन का शरीर तो देश की मिट्टी का बना है पर जिन की आत्मा ब्रिटेन से आयात हुई है, अंग्रेजी को राष्ट्र-रानी बनाने की हिमायत कर रहे हैं। बेचारी हिन्दी इसी कारण 'सौत' का शिकार बन रही है। शासकों ने हिन्दी को 'वाग्दान' दे कर भी पिछले 20 वर्षों में सजाने-संवारने की कोशिश नहीं की, उपेक्षा-वृत्ति से ही काम लिया। उन की आंखों में मैडम महारानी चढ़ी हुई थी, अंग्रेजी निरन्तर मुंह लगी रही। अब उस की जगह हिन्दी परिवार का आग्रह उपस्थित हुआ तो बंगाली-मद्रासी को प्रतिस्पर्धा में प्रस्तुत कर दिया जाता है। अड़चनें उपस्थित की जाती हैं। हिन्दी को अपरिष्कृत कह कर लांछित करने का भी साहस किया जाता है। वाग्दान दे कर भी अधिकार से वंचित किया जा रहा है। कुछ हिन्दी-हिमायती रस्मिया 'हाय हिन्दी' की चीख-पुकार कर चुप हैं और मैडम की चमक पर रीझ कर अधिकार की भी बलि चढ़ाने को आमादा हैं। यदि लोकसभा के ईमानदार प्रतिनिधि, पद और पैसे का मोह छोड़ कर हिम्मत करें, त्याग के लिए तत्पर बनें तो हिन्दी की अवमानना का अवसर ही नहीं आ सकता। हिन्दी-प्रेमी या राष्ट्रभाषा के अनुरागी यदि सदन छोड़ कर संगठित विरोध करें या त्याग पत्र देने का साहस करें तो जो 'बिल' आया है वह पाशविक बहुमत के आधार पर पास भले ही हो जाए किन्तु बेकार सिद्ध होगा।

जिन अहिन्दी-भाषियों के समर्थन की दुहाई दे कर शासक-वर्ग अंग्रेजी को आश्रय देने को आतुर है, उन में से अनेक जिम्मेदार लोगों ने अंग्रेजी का विरोध किया है। किन्तु उन को महत्त्व न दे कर शासक उन का पल्ला पकड़ रहे हैं, जो महज दुराग्रह के वश

अंग्रेजी का अंचल थाम रहे हैं। जो लोग संविधान की होली जला कर भारतीय संघ की एकता को चुनौती देते रहे हैं, उस दल की दलीलों को अनपेक्षित महत्त्व दिया जा रहा है।

जनतंत्र में बहुमत को महत्त्व मिलता है, यदि यह तर्क ठीक हो तो अंग्रेजी महज देश के एक प्रतिशत की भाषा है। उसे इतने बड़े बहुमत पर थोपने का, सदा के लिए संविधान में समाविष्ट करने का शासन को क्या अधिकार है? किन्तु अल्पमत का बहाना बना कर बहुमत की उपेक्षा करने का सरकार ही दुस्साहस कर रही है।

स्वप्न अहिन्दी-भाषियों का

हिन्दी को राजभाषा बनाने का प्रयास आज का नया नहीं है। इसे हिन्दी-भाषियों ने चलाया भी नहीं है। यह कहना सरासर गलत है कि हिन्दी-भाषी लोग 'हिन्दी का साम्राज्य' लादना चाहते हैं।

वस्तुतः इस राष्ट्र की भाषा हिन्दी हो, यह आज से अनेक वर्षों पूर्व अंदमान के कारावास-काल में आजन्म सजा पाए हुए वीरश्रेष्ठ सावरकर जी ने घोषित किया था। वहां अपने साथी-कैदियों को हिन्दी सिखाने का काम भी किया था। सभी जानते हैं कि स्व. सावरकर जी महाराष्ट्र के थे, हिन्दी-भाषी नहीं थे। स्वयं लोकमान्य तिलक और महात्मा जी भी हिन्दी-भाषी नहीं थे; परन्तु राष्ट्र के लिए जो हितकर था, तथ्य था उसे ही उन्होंने स्वीकार किया था। राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी को अभिषिक्त करने की पहल अहिन्दी महापुरुषों ने ही की है। चाहे प्रांतीयता से पीड़ित हो प्रसिद्ध भाषा-शास्त्री पं. सुनीति बाबू राजनीति के बहाव में आ गए हों, किन्तु इस के पूर्व सम्पूर्ण वैज्ञानिक तथ्यों के साथ अनेक बार उन्होंने हिन्दी का ही पूर्ण समर्थन किया है। हिन्दी-भाषी क्षेत्रों से अधिक ही अहिन्दी-क्षेत्रों में हिन्दी का विपुल प्रचार-प्रसार हो रहा है। बंगाल से अधिक-मद्रास में, और मद्रास से अधिक केरल एवं आन्ध्र-गुजरात में हो रहा है। वस्तुतः देश में उतना हिन्दी-विरोध नहीं है, जितना सरकारी राजनीतिक क्षेत्रों में पनप रहा है। यह विष-वल्ली वहीं बढ़ रही है, पनप रही है। मूलतः सरकारी क्षेत्रों के कुछ लाख लोग ही अपनी दुर्बलता और अंग्रेजी संस्कार की विवशता वश देश पर अंग्रेजी लादने का दुराग्रह बनाए चले आ रहे हैं, और अन्य प्रदेशों पर उस का अभियोग लगाने की साजिश करते रहते हैं। इसी साजिश को माध्यम बना कर शासन अपनी दुर्बलता प्रकट कर रहा है। इन्हीं की रक्षा की विवशता का बहाना बना कर शासन करोड़ों लोगों की भावना की उपेक्षा कर रहा है।

मध्य प्रदेश में देखिए – यहा स्वाधीनता से पूर्व दीर्घ काल से सर्वत्र (देशी राज्यों में) आम तौर पर हिन्दी में ही राज्य-कार्य चलता था, कोर्ट की भाषा भी हिन्दी थी। परन्तु स्वाधीनता के बाद पूरे मध्य प्रदेश में हिन्दी उखाड़ कर फेंक दी गई। यही स्थिति राजस्थान में भी रही है। यह जनता ने नहीं, स्वयं शासन ने हिन्दी को ठोकर लगा कर

अंग्रेजी को बलात सिर पर बिठाया है। अपराधी सरकार है। वह जनतंत्री कहला कर भी जनता से दूर है। क्या शासन बताने का दावा कर सकता है कि मध्य प्रदेश या राजस्थान में अहिन्दी-भाषी समाज अधिक है? या जनता का बड़ा वर्ग यहां अंग्रेजी जानता है? तब हिन्दी को हटा कर अंग्रेजी को अनावश्यक रूप से थोपने का यह अपराध किस ने किया है? क्या मध्य प्रदेश या राजस्थान ने अंग्रेजी की कोई मांग कभी की थी? वस्तुतः जनता का नहीं, हिन्दी की उपेक्षा कर अंग्रेजी का राज कायम करने का पूरा उत्तरदायित्व शासन का है। दोषी शासन है। औरों को अपराधी बनाने को बहाना बनाया जाता है। शासन जनता की आड़ ले कर स्वयं अंग्रेजी के महत्त्व का बनाए रखना चाहता है। और अंग्रेजों की तरह ही अपने कहे जाने वाले शासन को जनता से दूर रखना चाहता है ताकि उस के अधिकार का 'अहं' बना रहे।

जब चीनी या पाकिस्तानी आक्रमण हुआ, इस कोने से उस कोने तक रोष जाग्रत हो गया, सभी ने आपसी मतभेदों को भुला कर एकता कायम की, सहयोग दिया। किन्तु आक्रमण समाप्त होते ही वह रोष एवं एकता की भावना शिथिल क्यों होने लगी? क्या शासन ने इस पर गम्भीरता से विचार किया? नहीं, जिस सर्वसाधारण जनता ने जोश दिखाया, एकता कायम की, धन-जन से सहयोग किया, उस जनता को शासन ने अपने निकट नहीं लिया। सारा प्रचार अंग्रेजी में किया, जो जानकारी प्रकाशित हुई वह अंग्रेजी में ही हुई, स्वयं सीमावर्ती लोगों का भी विश्वास प्राप्त नहीं किया गया। सही स्थिति का पता तक नहीं चल पाया। विशेष बुलेटिन तक अंग्रेजी में ही प्रसारित हुए। हिन्दी या प्रादेशिक भाषा की उपेक्षा के कारण जन-सम्पर्क टूटता चला गया, जनता अनभिज्ञ बनी रही। उमड़ा हुआ जोश ठंडा होने लगा। एकता शिथिल हुई और दबे हुए विकृत विचार फिर ऊपर उठते गए। और फिर इस नये बिल ने उस पर प्रहार का काम किया है। शासन जनता से दूर ही नहीं, उन की मनोवैज्ञानिक स्थिति से भी सर्वथा अपरिचित हो कर दूर-दूर चला जा रहा है।

हिन्दी के बिना एकता असम्भव

देश की कृत्रिम एकता का चाहे शासन स्वप्न देखे, पर हिन्दी को महत्त्व दिए बिना वह जनता की निकटता नहीं प्राप्त कर सकता। जब तक शासक जनता से हिन्दी में सम्बन्ध रखना अपमानजनक समझता रहेगा, तब तक राष्ट्रीय एकता एवं समरसता की भावना सम्भव नहीं। देशी घोड़ी की विदेशी चाल ही चिन्ताजनक है। दुर्भाग्य की बात तो यह है कि हिन्दी-भाषी प्रदेश भी हिन्दी के प्रति उदासीन रहे हैं।

जो हिन्दी सही लिखना-बोलना भी नहीं जानते, वे यह कहने का प्रायः दुस्साहस करते हैं कि हिन्दी का साहित्य हीन है। वह शासन और शिक्षा की क्षमता नहीं रखती।

जो देश भारत को हिन्दी भाषा—प्रधान राष्ट्र समझ कर अपने राष्ट्रों में हिन्दी सीखते—सिखाते या प्रोत्साहन देते हैं, वे अनन्त काल तक अंग्रेजी को सहभाषा के रूप में स्वीकृत करने की बात सुन कर क्या धारणा बनाएंगे? और हिन्दी के प्रति कैसी धारणा बनाएंगे? क्या विदेशों में हम सिर उठा सकते हैं कि हमारे देश की कोई राष्ट्रभाषा ही नहीं है?

हम इतने उन्नत राष्ट्र और सुसंस्कृत समाज के होते हुए भी हमारी अपनी भाषा इतनी हीन और असंस्कृत है कि हमें अपनी ऊंचाई कायम रखने के लिए पराई अंग्रेजी को सिर पर बिठाने के लिए विवश बनना पड़े — यह कैसी लज्जाजनक स्थिति है। हम ने तोल—माप की मीटरिक, लीटर, किलो, क्विन्टल, किलोमीटर प्रणाली का व्यापक प्रयोग कर सहज ही साधारण समाज में अंग्रेजी को परिवारों में प्रविष्ट कर दिया है। यह एक संस्कारशील देश की कैसी दुरवस्था है। रोजाना रेडियो से खेती के उपयोग में आने वाली खाद या अन्य दवाइयों और बीमारी के उपचार के लिए धड़ल्ले से अंग्रेजी नामों की दवाइयां सुनवा कर जाने—अनजाने कुसंस्कार प्रेरित करते जा रहे हैं, विदेशी प्रवाह में बहा ले जा रहे हैं। पता नहीं इस प्रवृत्ति का कहां जा कर अन्त होगा।

23. यदि मैं तमिल या बंगाली होती!

— महादेवी वर्मा —

(सुप्रसिद्ध हिन्दी कवि, प्रयाग महिला विद्यापीठ की उपकुलपति और पद्मभूषण के अलंकरण का परित्याग करने वाली)

श्रीमती महादेवी वर्मा से पूछा गया कि यदि आप तमिल या बंगाली बुद्धिजीवी होतीं और आपको अपनी भाषा की सुविकसित अवस्था का भान होता तो क्या आपको इस बात का भय नहीं होता कि हिन्दी अगर आप पर थोपी गई तो इससे आपका सांस्कृतिक दमन होगा।

इसका उत्तर उन्होंने यों दिया: “यदि मैं तमिल या बंगाली बुद्धिजीवी होती तो मैं हिन्दी को स्वीकार करने में संकोच नहीं करती। सरल और सबसे अधिक बोली तथा समझी जाने वाली भाषा होने के कारण इसी में सम्पर्क भाषा होने की क्षमता है। राष्ट्र के हित को ध्यान में रखकर ही मैं ऐसा निर्णय करती, क्योंकि मेरी सम्मति में एकमात्र हिन्दी ही ऐसी भाषा है जो भारतीयों में राष्ट्रीयता की भावना जगा सकती है। दासता के दिनों में भी रवीन्द्रनाथ ठाकुर, दयानन्द सरस्वती और बंकिमचन्द्र चटर्जी जैसे महान बुद्धिजीवियों और साहित्यकारों ने अपनी-अपनी भाषाओं में लिखते पढ़ते हुए भी सदा इस सच्चाई पर जोर दिया कि केवल हिन्दी के व्यापक प्रयोग से ही भारत सशक्त राष्ट्र बन सकता है।

अपनी प्रादेशिक भाषा के साथ कितना ही “बौद्धिक मोह” क्यों न हो, किन्तु जब राष्ट्र भाषा की स्वीकृति का प्रश्न हो तब उस भाषा के साथ हमारा “भावनात्मक मोह” और अधिक गहरा होना चाहिए क्योंकि उसी में हमारी राष्ट्रीय एकता और कल्याण निहित है। राष्ट्रीय हित के सामने और सब विचार गौण होने चाहिए।”

दूसरा प्रश्न उनसे पूछा गया कि क्या आप त्रिभाषा फार्मूले का समर्थन करेंगी और अपने प्रदेश के नागरिकों से आग्रह करेंगी कि वे उस पर अमल करें।

इस प्रश्न का उत्तर उन्होंने यों दिया:

“जब तक भाषा सम्बन्धी विवाद समाप्त नहीं हो जाता और जब तक अंग्रेजी के पक्ष या विपक्ष में देश में संघर्ष जारी है, तब तक हम त्रिभाषा फार्मूले के सम्बन्ध में ईमानदारी से परीक्षण नहीं कर सकते। इस बात को दृष्टि में रखते हुए त्रिभाषा-सूत्र के सम्बन्ध में कोई राय प्रकट करना समय से बहुत पहले की बात है।”

तीसरा प्रश्न उनसे यह पूछा गया कि अहिन्दीभाषी लोगों को यह अनुभव करवाने के लिए कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने से उनके आर्थिक हितों को कोई आंच नहीं आएगी, आप क्या कदम उठाने का समर्थन करेंगी?

इसका उत्तर श्रीमती महादेवी वर्मा ने यों दिया:

“अब से 18 या 20 साल पहले अहिन्दी भाषियों के मन में इस प्रकार की आर्थिक असुरक्षा का कोई भाव नहीं था। यदि सन् 1947 में स्वतंत्रता प्राप्त करते ही हिन्दी को तुरन्त राष्ट्रभाषा स्वीकार कर लिया गया होता तो हिन्दी के कारण अहिन्दी भाषियों के आर्थिक हितों की “असुरक्षा” की कोलाहल-पूर्ण चर्चा आज कहीं सुनाई न देती। हिन्दी-विरोधी शक्तियों ने अहिन्दीभाषी जनता में उसके भविष्य के प्रति बनावटी भय पैदा करने के लिए इन लम्बे बीस वर्षों की अवधि का खूब दुरुपयोग किया है।

मैं महसूस करती हूँ कि अहिन्दी भाषियों में हिन्दी तथा हिन्दी क्षेत्रों के प्रति प्रेम और सद्भाव पैदा करने के लिए हमें गम्भीरता से प्रयत्न करना चाहिए। हिन्दी-भाषियों और अहिन्दी-भाषियों के बीच सहज “सांस्कृतिक, साहित्यिक और हार्दिक सम्पर्क” स्थापित करके ऐसा किया जाना चाहिए। मेरा सुझाव यह है कि उत्तरभारत के साहित्यिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों के ऐसे विद्वान लोग, जिन्हें अहिन्दी भाषी भी आदर की दृष्टि से देखते हों, उन प्रदेशों में जाएं, हिन्दी सिखाने के लिए नहीं, किन्तु उनकी भाषाएं सीखने के लिए और उनकी संस्कृति को समझने के लिए। इसके अलावा मेरा यह भी सुझाव है कि केन्द्रीय सेवाओं में राज्यवार कोटा निर्धारित हो जाए और राज्यों का प्रशासन उनकी प्रादेशिक भाषा में चलाया जाए। इससे अहिन्दी भाषी लोगों में “आर्थिक असुरक्षा” का तथाकथित भय दूर करने में सहायता मिलेगी।”

24. यदि मैं तमिल या बंगाली होता!

— सुमित्रानन्दन पन्त —

(सुप्रसिद्ध कवि, रूस के नेहरू-पुरस्कार विजेता और पद्मभूषण के अलंकरण का परित्याग करने वाले)

मुझसे भी वही प्रश्न किया गया है जो श्रीमती महादेवी वर्मा से किया गया था:

आप तमिल या बंगाली बुद्धिजीवी होते और आपको अपनी भाषा के उच्च विकास की स्थिति का भान होता तो क्या आपको इस बात का भय नहीं होता कि हिन्दी आप पर थोपी गई तो इससे आपका सांस्कृतिक दमन होगा?

इस प्रश्न के लिए मेरा उत्तर यह है:

यदि मैं तमिल या बंगाली बुद्धिजीवी होता तो मैं प्रसन्नतापूर्वक हिन्दी को सम्पर्क भाषा इस आधार पर स्वीकार कर लेता कि जहां तक हमारे रोजमर्रा के काम का सम्बन्ध है, समस्त सरकारी कामकाज का सम्बन्ध है, और अन्ततः प्रान्तीय कारोबार का सम्बन्ध है, भारतीय जनता की एकता के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि अभिव्यक्ति का एक माध्यम हो। सम्पर्क भाषा के रूप में हिन्दी को स्वीकार करने का अर्थ यह नहीं है कि हिन्दी भारत की अन्य किसी भी भाषा से “श्रेष्ठ” है। मैं तो उसे राष्ट्रीय एकता और सम्पर्क भाषा की समस्या का एकमात्र “व्यावहारिक समाधान” समझता हूँ।

तमिल या बंगाली के रूप में निश्चय ही मैं भारत की सभी भाषाओं के विकास में विश्वास करता। किन्तु मैं देश के लिए एक सम्पर्क भाषा का भी अवश्य समर्थन करता क्योंकि वह हमारी “राजनितिक जरूरत” है। मेरी भाषा — बंगाली या तमिल को — हिन्दी के सम्पर्क भाषा मान लिये जाने से किसी गम्भीर हानि का प्रश्न ही नहीं उठता। यह कहना कि सम्पर्क भाषा मान लेने का अर्थ है हिन्दी को तमिल भाषियों या बंगला भाषियों पर लादना — सर्वथा अयुक्तियुक्त है।

जहां तक त्रिभाषा फार्मूले का सम्बन्ध है, यदि इससे अंग्रेजी अनिवार्य बनती है तो मैं उसका समर्थन नहीं करूंगा। दूसरी ओर शिक्षा के माध्यम के रूप में मैं मातृभाषा और हिन्दी को पसंद करूंगा।

इसके अलावा, संसार से सम्बन्ध और सम्पर्क बनाए रखने के लिए तथा वैज्ञानिक और तकनीकी विषयों के अध्ययन के लिए अंग्रेजी का पठन-पाठन भी कायम रखना चाहिए। किन्तु अंग्रेजी को किसी भी हालत में सम्पर्क भाषा का स्थान न छेकने दिया जाए, क्योंकि वह हमारे बुद्धिजीवियों को जनता से दूर कर देगी।

आप मुझसे पूछते हैं कि अहिन्दीभाषियों के मन से उनकी आर्थिक असुरक्षा का कृत्रिम भय निकालने के लिए मैं क्या कदम उठाने की सलाह दूंगा – तो सचमुच मेरे लिए इस प्रकार का कोई सुझाव देना कठिन है। मैं तो अधिक से अधिक यही सलाह देने की हिम्मत करूंगा कि अहिन्दी भाषी स्वयं हिन्दी सीखें और हिन्दी के विरुद्ध वितृष्णा को छोड़ दें। हिन्दी न कोई पराई भाषा है, न ही विदेशी भाषा है। वे लोग बड़ी आसानी से इसमें निपुणता प्राप्त कर सकते हैं।

किन्तु साथ ही इस परिवर्तन की अवधि में अहिन्दी भाषियों के लिए केन्द्रीय सेवाओं में संरक्षण अवश्य मिलना चाहिए। जहां तक राज्यों के प्रशासन का सम्बन्ध है, वह तो निश्चय ही प्रादेशिक भाषाओं के माध्यम से चलना चाहिए। इससे अहिन्दीभाषियों को इस बात का तो आश्वासन मिल ही जाएगा कि हिन्दी को सम्पर्क भाषा मान लेने से उनके आर्थिक हितों को कोई आंच नहीं आएगी, कम से कम राज्य की सेवाओं के सम्बन्ध में।

मेरी राय में, हिन्दी सीखने के बारे में कठिनाई केवल वर्तमान पीढ़ी तक ही सीमित है।

25. यदि मैं तमिल या बंगाली होता!

— डॉ. रामकुमार वर्मा —

(सुप्रसिद्ध कवि, नाटककार, प्रयाग विश्वविद्यालय में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग
कि ओर से शोध प्राध्यापक और राजभाषा (संशोधन) विधेयक के विरोध में
पद्मभूषण अलंकरण के परित्याग—कर्ता)

यदि मैं तमिल या बंगाली होता तो इस समस्त हिन्दी-पक्षपाती और अंग्रेजी-विरोधी आन्दोल के प्रति मेरी क्या प्रतिक्रिया होती — यही जानना चाहते हैं न आप! तो जनाब यह ध्यान रखिए कि लोकतंत्रीय व्यवस्था में भाषाएं जनता पर थोपी नहीं जातीं। राष्ट्रीय एकता या भावात्मक एकीकरण की जरूरत के लिए सही ढंग की समझ ही लोगों को ऐसी भाषा सीखने के लिए प्रेरित कर सकती है जो उनकी अपनी नहीं है। देश के किसी भी अनिच्छुक वर्ग पर हिन्दी लादी नहीं जा सकती, और मैं तो कहूंगा, लादी भी नहीं जानी चाहिए।

दुर्भाग्य की बात यह है कि भाषा समस्या के साथ राजनैतिक विचारों को अनावश्यक रूप से जोड़ दिया गया है। यदि अंग्रेजी जैसी विदेशी भाषा भी चमत्कारी दक्षता के साथ सीखी जा सकती है तो हिन्दी, जो इसी देश की मिट्टी की उपज है, और भी अधिक आसानी के साथ सीखी जा सकती है। हरएक को केवल यह याद रखना है कि राष्ट्र चिरकाल तक प्रतीक्षा नहीं कर सकता। सांस्कृतिक दृष्टि से सभी भारतीय भाषाएं एक समग्र बीज के ही अंश हैं। उनमें परस्पर प्रतिस्पर्धा या विखेदवाद की प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए, बल्कि “संश्लेषणात्मक सांस्कृतिक दृष्टि” होनी चाहिए।

मेरी राय में सांस्कृतिक दृष्टि से किसी भी भाषा को दबाया नहीं जा सकता, यदि वह उसी देश की उपज हो। इसलिए तमिल या बंगाली होने के कारण मैं हिन्दी के प्रति कोई अनावश्यक द्वेष नहीं पालूंगा। इस बात को बारम्बार दुहराने की आवश्यकता नहीं है कि देश की एकता के लिए हिन्दी आवश्यक है। किन्तु यह मामला जबर्दस्ती “बाध्यता” का न होकर “पारस्परिक सौहार्द” का होना चाहिए। देश को एक इकाई के तौर पर बढ़ना है और किसी पर भाषा लादने के लिए कानून बना देने से कोई लाभ नहीं होगा।

और त्रिभाषा फार्मूला? जी हां, मैं उसका समर्थक हूं और चाहता हूं कि मेरे राज्य (उत्तर प्रदेश) में वह जल्दी से जल्दी क्रियान्वित हो।

रही यह बात कि हिन्दी के राजभाषा बनने से अहिन्दीभाषियों के आर्थिक हितों को आंच न आने पावे, मैं इस बात से भी सहमत हूं। उनके हितों की रक्षा के लिए सर्वोत्तम उपाय तो यह है कि इस परिवर्तन की अवधि में उच्च शिक्षा के लिए और अखिल भारतीय

प्रतियोगितात्मक सेवाओं की परीक्षाओं के लिए हिन्दी और अंग्रेजी दोनों ही समान रूप से माध्यम के रूप में व्यवहार में लाई जाएं — न कोई कम, न कोई ज्यादा। जो लोग हिन्दी को यत्किन्चित भी वरीयता देने का विरोध करते हैं, वे अंग्रेजी को किस तर्क के आधार पर वरीयता देना चाहते हैं? न सही हिन्दी को वरीयता, परन्तु उससे पहले अंग्रेजी की वरीयता को समाप्त करना होगा। इसीलिए मैंने मध्यम मार्ग के रूप में हिन्दी और अंग्रेजी दोनों को बराबरी का दर्जा देने का सुझाव दिया है।